अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

हताशा से एक व्यक्ति बैठ गया था
व्यक्ति को मैं नहीं जानता था
हताशा को जानता था

इसलिए मैं उस व्यक्ति के पास गया

मैंने हाथ बढ़ाया
मेरा हाथ पकड़कर वह खड़ा हुआ
मुझे वह नहीं जानता था
मेरे हाथ बढ़ाने को जानता था

हम दोनों साथ चले
दोनों एक दूसरे को नहीं जानते थे
साथ चलने को जानते थे।

वर्ष : 52 अंक : 4 चैत्र-वैशाख वि.सं. 2082 अप्रेल, 2025 पृष्ठ-28 RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x

बीकानेर समिति में निर्विरोध चुनाव

शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार उन्नयन को समर्पित संस्था बीकानेर प्रौढ़ शिक्षण समिति, बीकानेर के चुनाव 17 मार्च, 2025 को सर्वसम्मति से संपन्न हो गये। अध्यक्ष पद पर डॉ. ओम कुवेरा चुने गए, जबकि सचिव पद की जिम्मेदारी सुशीला ओझा को मिली है। उपाध्यक्ष पद पर डॉ. विभा बंसल, कोषाध्यक्ष पड़ पर एडवोकेट गिरिराज मोहता तथा संयुक्त सचिव के रूप में डॉ. ब्रजरतन जोशी निर्वाचित हुए हैं। ❑

समिति में दो किताबों पर चर्चा

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में पिछले दिनों दो किताबों पर दिलचस्प विमर्श हुआ। एक किताब थी कविताओं की जिसमें रिश्ते-नातों का वह मीठापन था जो नये ज़माने में खो गया है। दूसरी किताब एक उपन्यास थी जिसमें एक पौराणिक चरित्र को नयी दृष्टि से देखा गया था। कविताएं लिखने वाला पेशे से व्यवसाई था जबकि पुराणों पर कथा लिखने वाला दैनिक अखबार का पत्रकार। दोनों लेखक निराभिमानी। कलमकार मंच के साथ हुए इस इस आयोजन में दो-दो समीक्षकों ने सुंदर 'बेवफा' की कविताओं की पुस्तक 'एहसास' तथा राजेश शर्मा के उपन्यास 'मंथरा' पर अपनी अपनी बेलाग टिप्पणियां की। 'मंथरा' पर टिप्पणीकार थे कविता मुखर और महेश कुमार जबकि 'एहसास' पर सुनीता बिश्नोलिया तथा पूनम भाटिया ने सम्मतियां रखी।

कार्यक्रम में मौजूद जाने-माने साहित्यकार नन्द भारद्वाज, लेखक चरणसिंह पथिक तथा व्यंग्यकार फ़ारूक़ अफ़रीदी ने लेखन की विधाओं पर सहज सीख दी। कलमकार मंच के निशांत मिशा ने सहज ढंग से संचालन किया। आयोजन का समापन एक छोटी सी काव्य गोष्ठी के साथ हुआ। ❑

Love is patient, love is kind. It does not envy,
it does not boast, it is not proud. It does not dishonor
others, it is not self-seeking, it is not easily angered,
it keeps no record of wrongs.

1 Corinthians 13:4-5

प्रेम धीरज है, प्रेम दयालु है। यह ईर्ष्या नहीं करता,
यह शेखी नहीं बघारता, यह घमंडी नहीं है। यह दूसरों का अपमान नहीं
करता, यह स्वार्थी नहीं है, यह आसानी से क्रोधित नहीं होता, यह
गलतियों का कोई हिसाब नहीं रखता।

(बाइबिल की सीख)

समानो मन्त्र: समिति: समानी समानं मन: सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:।
समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति।। ऋग्वेद

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका

वर्ष : 52 अंक :4 चैत्र-वैशाख वि.सं. 2082 अप्रेल, 2025 मूल्य : पचास रुपये

क्र म

वाणी

3. बाइबिल की सीख

संपादकीय

5. असहमति के लिए जगह बनी रहना जरूरी

लेख

7. समता मूलक सामजंस्य की अवधारणा
– नन्दकिशोर आचार्य

9. किसानों का इतिहास जानना
– मृदुला मुखर्जी

12. थोड़े में गुज़ारा होता है
– डोमिनिक मान

14. कहानी अंतरिक्ष में अप्रत्याशित होने की

भेंट वार्ता

16. मेरे लिखने के लिए अभी बहुत कुछ बचा हुआ है... **– विनोद कुमार शुक्ल**

21. **पुस्तक परिचय**
ऐश्वर्या राय को पहला ब्रेक देने के बाद 'ये दिल मांगे मोर' **– प्रहलाद कक्कड़**

लेख

24. हिन्दी के बारे में
– योगेंद्र यादव

26. वाबी-साबी: अपूर्ण, अनित्य और अधूरी चीजों की सुंदरता! **– वी.राजन**

स्मृति शेष

27. हिम्मत शाह नहीं रहे

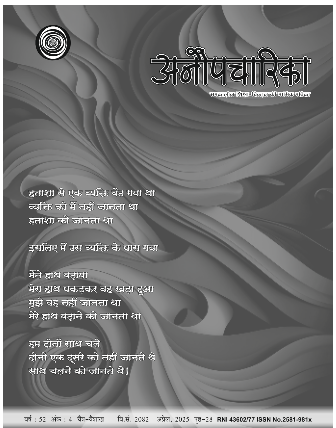

आवरण कविता : विनोद कुमार शुक्ल

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति

7-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र,

जयपुर-302004

फोन : 2700559, 2706709, 2707677

ई-मेल : raeajaipur@gmail.com

www.raea.in

संरक्षक :
श्रीमती आशा बोथरा
संपादक :
राजेन्द्र बोड़ा
प्रबंध संपादक :
दिलीप शर्मा

संपादकीय

असहमति के लिए जगह बनी रहना जरूरी

लोकतान्त्रिक व्यवस्था सबकी सहमति बना कर चलती है। शासन की बागडोर भले ही प्रतिस्पर्धात्मक निर्वाचन से सौंपी जाती है किन्तु राज्य का संचालन आम सहमति बना कर चलाना ही लोकतान्त्रिक नेताओं की असली उपलब्धि होती है। लोकतंत्र की पहली शर्त यही होती है कि उसमें प्रत्येक नागरिक को लगे कि वह अपने तरीके से जीवन जीने को स्वतंत्र है। इस स्वतंत्रता में उसकी किसी परमेश्वर में आस्था के साथ किसी परमेश्वर को न मानने की भी आस्था, उसका रहन सहन, उसकी बोली, उसका खानपान, पहनावा सब शामिल होता है। भारतीय संविधान उसे अपनी बात कहने का, अपना मत रखने का, और उसे अभिव्यक्त करने का पूरा हक़ देता है। संविधान उसे यह हक़ भी देता है कि वह बिना कोई लोभ, लालच, प्रलोभन या दबाव दिये दूसरों को अपने मत का बनाने के लिए प्रयत्न कर सके। नागरिकों के लिए इन्ही अधिकारों को पाने के लिए देश की आज़ादी के लिए लंबी जंग लड़ी गई थी। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, भारत के स्वाधीनता संग्राम के मूलभूत मूल्यों में से एक थी। अंग्रेजों ने असहमति के स्वर को कुचलने का भरसक प्रयास किया परंतु स्वाधीनता सेनानियों को यह एहसास था कि देश में प्रजातांत्रिक संस्कृति की जड़ पकड़ने के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अपरिहार्य है।

स्वाधीनता संग्राम के कई नेताओं को निडरता से अपनी बात रखने की बड़ी कीमत अदा करनी पड़ी। उन्हें ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों द्वारा हर तरह से प्रताड़ित किया गया। स्वाधीनता के बाद, हमारे संविधान में इस तरह के प्रावधान किए गए जिनसे अभिव्यक्ति की आज़ादी को कोई सरकार समाप्त न कर सके। इन अधिकारों में प्रत्येक नागरिक को असहमति का अधिकार भी शामिल है जो संविधान की उसी धारा में समाहित है जिसमें प्रत्येक नागरिक को अभिव्यक्ति की आज़ादी दी गई है। असहमति और कुछ नहीं बल्कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 19 में निहित प्रतिबंधों के अधीन अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार का विस्तार ही है। ये एक ऐसा अधिकार है जिसे बनाये रखने की हमने शपथ ले रखी है। जब भी कोई चीज़ हमारी अंतरात्मा के ख़िलाफ़ जाती है तो हम इसे मानने से इनकार कर देते हैं। अपना कर्तव्य समझते हुए हम ऐसा करने से इनकार करते हैं। संविधान हमें ऐसा अधिकार देता है कि हम ऐसी किसी बात को मानने से इनकार करें जो हमारी अंतरात्मा के ख़िलाफ़ है। यही बात महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन से हमें सिखाई।

असहमति लोकतंत्र का सेफ्टी वॉल्व है। इसका मतलब है कि लोकतंत्र में असहमतियों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए न कि उन्हें कुचला जाना चाहिए। शर्त बस इतनी ही है कि असहमति शांतिपूर्ण हो और वह हिंसा में तब्दील न हो।

असहमति का अर्थ विरोध नहीं होता, इसलिए हमारे यहां इसकी जगह पक्ष और प्रतिपक्ष की अवधारणा है। हमारे संवैधानिक सदनों में कोई विरोधी पक्ष नहीं होता, प्रतिपक्ष होता है। असहमति जीवंत लोकतंत्र का प्रतीक है। लोकतान्त्रिक शासन में असहमति की तार्किक अभिव्यक्ति आम सहमति बनाने के लिये ही होती है। लेकिन हम पाते हैं कि भारतीय समाज में विभिन्न मुद्दों पर विपरीत विचारधारा के लिये असहिष्णुता बढ़ रही है। यह चिंता की बात है। दुर्भाग्य से कई बार असहमति का विकृत रूप भी देखने को मिलता है। ऐसा प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति के कारण होता है जहां असहमति के लिए लोगों को भड़काया जाता है जिसका नतीजा जनसमूह के हिंसक हो जाने की घटनाएं के रूप में सामने आता है। असहमति व्यक्त करने के लिए शुरू में शांतिपूर्ण तथा अहिंसक तरीके से धरना-प्रदर्शन और बंद का आयोजन किया जाता है लेकिन उसे हिंसक होने में देर नहीं लगती। यह भी महत्वपूर्ण है कि हिंसा का माहौल आंदोलनकारियों के कृत्य से बनता है या राज्य की ताकत की प्रतीक पुलिस के असंयमित कदम से। लेकिन हिंसक गतिविधियों को 'असहमति' के दायरे में नहीं माना जा सकता। हिंसा भौतिक ही नहीं होती है। असंयमित भाषा, क्रूर भाषा और गाली - गलौच वाली भाषा, किसी को देख लेने की धमकी देने वाली भाषा और किसी की आस्था का अमर्यादित मजाक उड़ाना हिंसा का प्रतिरूप ही माना जा सकता है।

अभिव्यक्ति की आजादी के अधिकार के इस्तेमाल के नाम पर किसी व्यक्ति या समुदाय के बारे में कटुता फैलाने की आज़ादी भी हमारा संविधान नहीं देता। सरकार के रवैये से नाराज होकर किये जाने वाले आंदोलनों के दौरान हिंसा और तोड़फोड़ होना भी आम है। इसीलिए लोकतंत्र में असहमति और असहमति व्यक्त करने के लिये हिंसा, तोड़फोड़ करने या फिर विघटनकारी गतिविधियों का सहारा लेने जैसे कृत्यों के बीच अंतर करने और असहमति के स्वरूप को परिभाषित करने की भी आवश्यकता महसूस की जाती रही है।

अभिव्यक्ति की आजादी का बोलबाला सोशल मीडिया पर अधिक नज़र आता है जहां राजनीतिक दलों, नेताओं के साथ ही न्यायपालिका और इसके सदस्यों के बारे में भी मनमर्जी की टिप्पणियां आम होती हैं। इसी वजह से ऐसा महसूस किया जाता है कि सोशल मीडिया पर की जा रही अनर्गल और बेबुनियाद टिप्पणियों पर अंकुश लगाने की आवश्यकता है।

इन दिनों जो हो रहा है ज्यादा चिंता की बात यह है कि साम्प्रदायिकता के ज़हर से लबरेज़ लोग अपने स्तर पर साम्प्रदायिकता के विरोधियों की आवाज़ को कुचल रहे हैं, उन पर जानलेवा हमले कर रहे हैं। आज न केवल धर्मिक अल्पसंख्यकों के प्रति घृणा का वातावरण बन गया है बल्कि उनके प्रति भी जो प्रजातांत्रिक और बहुवादी मूल्यों के हामी हैं। समाज में असहिष्णुता तेजी से बढ़ी है। ऐसे में अनेक सवाल उठते है। समाज का साम्प्रदायिकीकरण क्यों हो रहा है? हम इतने असहिष्णु क्यों होते जा रहे हैं? यदि हम कुछ पीछे मुड़कर देखें तो स्वाधीन भारत में वैचारिक कारणों से हत्या की सबसे पहली और सबसे प्रमुख घटना थी महात्मा गांधी की हत्या। अभिव्यक्ति और विचार की स्वतंत्रता राज्य की उदारता से नहीं मिलती। अभिव्यक्ति का सरकारी दमन असत्य को उजागर करने को अधिक कठिन तो बना सकता है, उसे कम नहीं कर सकता। ❑

समतामूलक सामंजस्य में राज्य की अवधारणा

❑

नन्दकिशोर आचार्य

आचार्य जी की सद्य प्रकाशित पुस्तक 'समतामूलक सामंजस्य: एक प्रस्तावना' का एक अंश जो महात्मा गांधी की दृष्टि की राजनैतिक संरचना को बखूबी समझाता है। यह पुस्तक 'गांधी स्कूल ऑव डेमोक्रेसी एंड सोशलिज्म', आईटीएम यूनिवर्सिटी, ग्वालियर ने प्रकाशित की है। सं.

प्रत्येक आर्थिकी की एक सहजन्मा राजनीति होती है क्योंकि अर्थ और राज्य दोनों ही सत्ता के दो रूप होते हैं, जिनके बीच संगति होना दोनों के लिए वांछनीय ही नहीं, अनिवार्यता होता है। इसलिए अर्थसत्ता के केन्द्रीयकरण को हिंसक, अन्यायपूर्ण और विषमतामूलक मानने वाले तथा उसके विकेन्द्रीकरण का आग्रह करने वाले विचारकों का राजसत्ता के विकेन्द्रीकरण का प्रबल समर्थन स्वाभाविक ही लगता है।

महात्मा गांधी तो, दरअस्ल, एक प्रबुद्ध अराज्यवादी ही हैं क्योंकि उनके विचारानुसार राज्य संकेंद्रित और संगठित हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के पास आत्मा होती है, लेकिन क्योंकि राज्य आत्मा से विहीन तंत्र होता है, इसलिए उसे हिंसा से विरत कभी नहीं किया जा सकताउसका अस्तित्व ही हिंसा में निहित है। इसीलिए, वे लोकतंत्र और हिंसा को परस्पर विरोधी मानते हुए यहां तक कह देते हैं कि लोकतंत्र और हिंसा साथ-साथ नहीं चल सकते। जो राज्य आज नाम के लोकतान्त्रिक हैं, उन्हें या तो खुल्लम-खुल्ला सर्वसत्तात्मक बन जाना होगा या अगर वे सचमुच लोकतान्त्रिक बनना चाहते हैं तो हिम्मत करके उन्हें अहिंसक रूप धारण करना होगा। यही कारण है कि वे लोकतंत्र के सर्वोत्तम रूप माने जाने वाले प्रतिनिधि-सत्तात्मक संसदीय लोकतंत्र को भी वास्तविक स्वराज नहीं मानते क्योंकि संसदीय लोकतंत्र भी, अंततः निर्वाचित होने के बावजूद सत्ता का संसद में केन्द्रीकरण करता और हिंसा पर आधारित हो जाता है। इसीलिए वे मानते हैं कि आदर्श राज्य में राजनैतिक शक्ति नहीं होगी, क्योंकि उसमें क्लॉइ राज्य ही नहीं होगा। क्रोपोटकिन ने इसी को 'प्रबुद्ध अराज्यत्व' की संज्ञा दी है। क्रोपोटकिन के लिए भी गैर-पूंजीवाद का तात्पर्य गैर-सरकारी व्यवस्था है, राज्य के अधीन आर्थिक आर्थिकी नहीं। महात्मा गांधी के लिए स्वराज का तात्पर्य है सरकार के नियंत्रण से मुक्त होने का सतत प्रयास और यहां वे विदेशी और राष्ट्रीय सरकार के बीच कोई भेद नहीं करते।

लेकिन, जाहिर है कि प्रचलित अर्थों में राज्य न भी सही, पर कोई-न-कोई राजनैतिक व्यवस्था या संरचना की आवश्यकता तो होगी ही। क्या किसी ऐसी राजनैतिक संरचना की कल्पना की जा सकती है, जो महात्मा गांधी के अहिंसक लोकतंत्र की कल्पना के अधिकाधिक अनुकूल हो। विकेन्द्रीकरण का वास्तविक अर्थ स्थानीय संस्थाओं को राज्य का एजेंट बनाना नहीं, बल्कि उनकी सभी क्रियात्मकता को राज्य के नियंत्रण से मुक्त करना ही हो सकता है। राजयविहीनता से गांधीजी का तात्पर्य राज्य का सम्प्रभु नियंत्रक होने के बजाय एक 'संस्तरीय समन्वयक' हो जाना ही हो सकता है। महात्मा गांधी राजनैतिक संरचना की अपनी अवधारणा को 'महसागरीय वलय – ओसिएनिक सर्किल-'के माध्यम से स्पष्ट करते हैं, जिसके सभी वलय समस्तरीय होंगे। उन्हीं के शब्दों में: असंख्य गावों से बने इस ढांचे में एक के बाद एक विस्तारशील किन्तु कभी ऊर्ध्वगामी न होने वाले वलय होंगे। जीवन एक पिरामिड की तरह नहीं होगा, जिसमें आधार को शीर्ष का भार वहां करना पड़ता है, बल्कि एक समुद्री वलय की तरह होगा, जिसके केंद्र में व्यक्ति होगा, जो सदैव अपने गाँव के लिए मरमिटने को तैयार होगा, गांव गांवों के समूह के वास्ते नष्ट हो जाने को तैयार होगा और यह प्रक्रिया वहां तक चलती रहेगी, जहां सम्पूर्ण एक जीवन का रूप धारण कर लेगा; सभी व्यक्ति इस एक जीवन के अंग होंगे, वे कभी आक्रामक रुख नहीं अपनायेंगे, बल्कि सदा विनम्रता का व्यवहार करेंगे और उस समुद्री वलय के ऐश्वर्या में भागीदार होंगे,

गांधी ऐसे विचारक हैं जो विश्व के कल्याण के लिए ही अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता आवश्यक मानते हैं; देश के लिए स्वतंत्र होना इसलिए आवश्यक है कि यदि आवश्यकता हो तो वह विश्व के कल्याण के लिए स्वयं को न्यौछावर कर सके। इस धारणा में प्रजातीय घृणा का कोई स्थान नहीं है। यही हमारी राष्ट्रीयता की भावना होनी चाहिए। वे तो यहां तक कह देते हैं कि अगर दुनिया को एक नहीं होना है तो मैं इसमें रहना नहीं

जिसकी वे अंगभूत इकाइयां हैं। इस समुद्री वलय की बाह्यतम परिधि के पास कभी आंतरिक परिधि को कुचलने की शक्ति नहीं होगी, बल्कि वह अपने अंदर की सभी परिधियों को शक्ति प्रदान करेगी तथा स्वयं उनसे शक्ति प्राप्त करेगी। आपत्ति की जा सकती है कि यह एक यूटोपिया है, जिसे पाया नहीं जा सकता। लेकिन, गांधीजी इस सत्य से परिचित थे कि पूर्णता की किसी कल्पना के बिना अपूर्णताओं को कम से कम करते जाना संभव नहीं है। इसलिए, ऐसी आपत्तियों का पहले से ही अनुमान लगाते तथा उनका उत्तर देते हुए अपने उपर्युक्त कथन में वे यह भी जोड़ देते हैं: लोग पलट कर मुझे उलाहना दे सकते हैं कि ये सब यूटोपियाई बातें हैं और जरा भी विचारणीय नहीं हैं। यूक्लिड के बिन्दु का, भले ही कोई भी उसे कागज पर न उतार सके, एक अक्षय मूल्य है तो मेरी उपर्युक्त तस्वीर का भी मानव-जाति के लिए मूल्य है।

जाहिर है कि इस महसागरीय वलय या समस्तरीय संरचना में संप्रभुता के किसी एक स्थान पर केंद्रित होने की संभावना नहीं रहती। महात्मा गांधी इस संरचना को एक स्वायत्त ग्राम-गणतंत्र के आधार पर विकसित करते हैं, जिसकी निर्वाचित पंचायत उस गांव के लिए विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका तीनों को समाविष्ट करते हुए अपने कर्तव्यों का निर्वाह करेगी। इस निर्वाचित पंचायत का कार्यकाल भी एक वर्ष का ही होगा तथा उसका आधार वह ग्रामसभा होगी, जिसके सदस्य गांव के सभी वयस्क स्त्री-पुरुष होंगे। यही गांधीजी की 'ग्राम स्वराज' की कल्पना है जो प्रत्येक व्यक्ति के अपने स्वराज में रह सकने के लिए उपयुक्त परिस्थिति होगी।

महात्मा गांधी ने तो भारतीय स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत रहते हुए भी गोलमेज सम्मेलन के दौरान लंदन में भारतीय छात्रों की एक सभा को संबोधित करते हुए कहा था: मुझे अपने देशवासियों की पीड़ाओं के निवारण से भी अधिक चिंता मानव प्रकृति के बर्बरीकरण को रोकने की है। गांधी ऐसे विचारक हैं जो विश्व के कल्याण के लिए ही अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता आवश्यक मानते हैं; देश के लिए स्वतंत्र होना इसलिए आवश्यक है कि यदि आवश्यकता हो तो वह विश्व के कल्याण के लिए स्वयं को न्यौछावर कर सके। इस धारणा में प्रजातीय घृणा का कोई स्थान नहीं है। यही हमारी राष्ट्रीयता की भावना होनी चाहिए। वे तो यहां तक कह देते हैं कि अगर दुनिया को एक नहीं होना है तो मैं इसमें रहना नहीं चाहूंगा। मैं निश्चित रूप से यह चाहता हूं कि यह समय मेरे जीवन-काल में ही सच हो जाये। ❑

किसानों का इतिहास जानना

मृदुला मुखर्जी

जानी-मानी भारतीय इतिहासकार किसानों को दुनिया का सबसे पुराना वर्ग मानते हुए उनकी ऐतिहासिक छवि के मॉडल को चुनौती देती हैं। सं.

पूरे इतिहास में किसान उन लोगों के लिए एक पहेली रहे हैं जिन्होंने उनसे निपटने की कोशिश की है, चाहे वे राजा हों जिन्होंने उन पर शासन करने की कोशिश की हो या क्रांतिकारी जिन्होंने उनका नेतृत्व करने की कोशिश की हो, कर संग्रहकर्ता जिनका काम उनसे पैसे वसूलना रहा हो या कल्याण कार्यकर्ता जो उनकी बेहतरी चाहते हों, सामाजिक मानवविज्ञानी जो उन्हें बेहतर तरीके से जानने के लिए उनके साथ रहते हों या इतिहासकार जो उनके अतीत को उजागर करके उनके वर्तमान को समझते की कोशिश करते हुए उनके भविष्य की कल्पना करते हों।

उनका इतिहास एक साथ विद्रोह और मौन पीड़ा की कहानी है, सामूहिक कार्रवाई और व्यक्तिवाद की कहानी है, कहावतों में वर्णित किसान छल और उतनी ही कहावतों में वर्णित किसान मूर्खता की कहानी है, घर और चूल्हे के प्रति तीव्र लगाव और प्रवास की कहानी है, अपने आप मको ढाल लेने और परिवर्तन के प्रति अड़ियल प्रतिरोध की कहानी है, समतावादी व्यवस्था के प्रति आग्रह और ऊंच नीच के सख्त पालन की कहानी है, नए धर्मों में सामूहिक धर्मांतरण और अपने पूर्वजों के विश्वास की रक्षा के लिए अविश्वसनीय बलिदान की कहानी है, सर्वोत्तम पारंपरिक सांस्कृतिक मूल्यों और बर्बरता की कहानी है, सदियों पुरानी कृषि पद्धतियों को ईमानदारी से जारी रखने और नई प्रौद्योगिकियों को तत्परता से स्वीकार करने की कहानी है, कानून का पालन करने और कुख्यात विद्रोही होने की कहानी है।

यकीनन किसान दुनिया का सबसे पुराना वर्ग है। वे न केवल राजाओं, कुलीनों और सामंतों तथा व्यापारियों और व्यवसायियों के उद्भव का आधार थे, बल्कि इसके लिए भूमि भी तैयार करते थे। अन्य सभी सामाजिक वर्ग किसानों से कम से कम कुछ शताब्दियों छोटे हैं, और

औद्योगिक श्रमिक वर्ग उनकी तुलना में लगभग बच्चे हैं।

किसानों के अस्तित्व की लंबी अवधि कभी-कभी किसी को भी इनकी अमरता की संभावना के बारे में सोचने पर मजबूर कर देती है। जबकि इनके श्रम पर जीने वाले और इतिहास में इनके सहारे चलने वाले कई लोग इतिहास के पन्नों में समा गए हैं, किसानों ने जीवित रहने की एक अनोखी क्षमता का प्रदर्शन किया है। उन्होंने पैमाने की अर्थव्यवस्थाओं के तर्क को चुनौती दी है जिसे पूंजीवाद ने अपने दुखद लेकिन अपरिहार्य रूप से विलुप्त होने की घोषणा करने के लिए रखा था। उन्होंने दृढ़ता के साथ अपने सामूहिक खेतों, कोल्खोज और कम्यून की राख से समाजवाद को जीवन में लाने के लिए मजबूर किया।

जो लोग सोचते थे कि उन्होंने इनका अंतिम शोकगीत गा दिया है, वे अब एक नया राग गा रहे हैं जिसका नारा है किसान खेत की आर्थिक व्यवहार्यता है और हममें से कई लोग जिन्होंने इसे किसी भी तरह की तर्कसंगतता से इनकार किया था, अब किसान तर्कसंगतता की बात करते हैं।

किसानों ने अपने व्यवहार को समझाने और भविष्यवाणी करने के लिए बनाए गए सभी परिष्कृत सिद्धांतों और साफ-सुथरे मॉडलों के प्रति भी बहुत कम सम्मान दिखाया है। उन्होंने उन दोनों को ही ताना मारा है जो सोचते थे कि उनका सार एकरूपता है और जो उन्हें छोटे बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग में विभाजित करते हैं और भूल जाते हैं कि वे अभी भी किसान हैं। मध्यम किसान जिन्हें पारिवारिक श्रम से खेती करनी थी और जिनका बाजार से कोई लेना-देना नहीं था, वे बाजार से गहराई से जुड़े पाए गए और भारत की तरह, वे भी मज़दूरों को काम पर रखते हैं। अमीर, मध्यम और गरीब किसान अक्सर माओ ज़े डोंग या एरिक वुल्फ़ द्वारा उनके लिए परिभाषित की गई भूमिकाओं से अलग भूमिकाएं निभाते इस प्रकार पाए जाते हैं कि कोई यह सोचने लगता है कि क्या ये श्रेणियाँ बिल्कुल भी उपयोगी थीं। उदाहरण के लिए, गरीब किसान जिनसे उनकी वर्ग स्थिति के कारण सबसे उग्रवादी होने की उम्मीद की जाती थी, अगर क्रांतिकारी नहीं, तो अक्सर सबसे विनम्र निकले हैं। और धनी किसान जिन्हें कुलक कहकर राजनीतिक स्पेक्ट्रम के प्रतिक्रियावादी छोर पर धकेल दिया गया था, वे अक्सर विरोध आंदोलनों के नेतृत्व में पाए गए हैं। न ही इस बात पर बहस हुई है कि क्या उन्हें भूमि के आकार और अन्य संसाधनों तक पहुंच के आधार पर अमीर, मध्यम और गरीब में वर्गीकृत किया जाना चाहिए, या पारिवारिक आय के आधार पर, या कृषि उत्पादन संबंधों की संरचना में उनकी स्थिति के आधार पर। हमें किसानों के राजनीतिक और सामाजिक और यहां तक कि आर्थिक व्यवहार के बारे में सवालों के जवाब देते हुए हम बहुत दूर निकाल गये हैं।

उनके लिए बनाए गए भव्य सिद्धांतों या आदर्श मॉडलों पर खरा उतरने में किसानों की विफलता का कारण उनकी अंतर्निहित अप्रत्याशितता नहीं है, बल्कि मॉडल-निर्माण की परियोजना की संभवतः बहुत ही दोषपूर्ण प्रकृति है। यह उम्मीद करना तर्कसंगत रूप से अनुचित है कि कई शताब्दियों बल्कि सहस्राब्दियों तक, कई महाद्वीपों में, कई अलग-अलग संस्कृतियों और सभ्यताओं के माध्यम से और कई युगों में फैले एक समृद्ध और विविध इतिहास को किसी एक मॉडल या सिद्धांत के भीतर समाहित किया जा सकता है, चाहे वह कितना भी परिष्कृत या जटिल क्यों न हो।

किसान विरोध के अधिक नाटकीय और हिंसक क्षणों के प्रति जुनून और महिमामंडन के प्रति एक प्रति-पंक्ति के रूप में रोजमर्रा के प्रतिरोध पर जोर देने की आवश्यकता को समझा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से सहानुभूति रखना भी संभव है कि किसानों ने अक्सर इतिहास की भव्य घटनाओं में भागीदारी से बहुत कम हासिल किया है और कभी-कभी बहुत अधिक खो दिया है। लेकिन क्या यह, वर्तमान में प्रचलित शब्दावली का उपयोग करते हुए, सभी किसानों के लिए, सभी युगों में, विरोध और प्रतिरोध के अन्य सभी रूपों पर रोजमर्रा के प्रतिरोध को विशेषाधिकार देने का आधार बन सकता है?

मुझे आशा है कि किसान अध्ययनों में अपनाई गई एक खास तरह की कार्यप्रणाली के बारे में मेरी आपत्तियाँ इतिहासकार के मॉडल निर्माण के बारे में सामान्य रूप से स्थापित संदेह का प्रतिबिंब मात्र नहीं हैं। कुछ खास तरह के समूह व्यवहार के विश्लेषण के आधार पर बनाए गए मॉडल मोटे तौर पर समान परिस्थितियों में मोटे तौर पर समान समूहों की गतिविधियों को समझने के लिए उपयोगी उपकरण हो सकते हैं। मेरा तर्क यह है कि अठारहवीं सदी के शुरुआती

ब्रिटिश उद्योगपतियों का अध्ययन करने के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले, बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बहुराष्ट्रीय औद्योगिक उद्यमियों के व्यवहार को समझाने के लिए तैयार किए गए मॉडल की वैधता पर सवाल उठाना उतना ही संभव है, जितना कि चौदहवीं सदी के जर्मन या अंग्रेजी किसानों, या यहाँ तक कि बीसवीं सदी के उत्तरार्ध या मध्य में चीनी या भारतीय किसानों पर लागू होने वाले मॉडल के बारे में संदेह पैदा करना, जो बीसवीं सदी के उत्तरार्ध के मलय किसानों से एकत्र किए गए डेटा के आधार पर बनाए गए थे। अगर मलय मॉडल का इस्तेमाल भारत के लिए किया जाना है, तो इसे कम से कम सांस्कृतिक कोड में अंतर के साथ-साथ जीवंत लोकतंत्र की अनिवार्यताओं को समायोजित करने के लिए संशोधित करना होगा।

किसानों के लंबे और अधिकतर अज्ञात इतिहास में, और यहाँ तक कि भारतीय किसानों के ज्ञात इतिहास में भी, यहां जो कहानी कही गई है, वह एक छोटा सा हिस्सा है, विशाल महासागर में एक बूँद के समान है। इसीलिए मैं किसानों के व्यवहार का कोई सामान्य मॉडल बनाने का प्रस्ताव नहीं रखती। ❑

खबर

विज्ञान पर लोगों का भरोसा बना हुआ है

एक वैश्विक सर्वेक्षण के अनुसार, भारतीय लोगों का विज्ञान में भरोसा, मिस्र के बाद दूसरे स्थान पर है, जबकि दुनिया भर में इसका स्तर मध्यम स्तर का है। वैज्ञानिकों पर जनता के भरोसे के मामले में ऑस्ट्रेलिया पांचवें और बांग्लादेश छठे स्थान पर है, जबकि न्यूजीलैंड नौवें और अमेरिका बारहवें स्थान पर है।

नेचर ह्यूमन बिहेवियर नामक पत्रिका में प्रकाशित विश्लेषण में कहा गया कि बार-बार दोहराए जाने वाले दावे कि विज्ञान पर से लोगों का भरोसा उठ रहा है का 68 देशों में किए गए सर्वे में कोई सबूत नहीं मिला।

स्विट्जरलैंड के ईटीएच ज्यूरिख की प्रमुख शोधकर्ता विक्टोरिया कोलोग्ना ने कहा, हमारे परिणाम बताते हैं कि अधिकतर देशों में अधिकांश लोगों का वैज्ञानिकों पर अपेक्षाकृत उच्च स्तर का भरोसा है और वे चाहते हैं कि वैज्ञानिक समाज और राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाएं।

कोविड महामारी के बाद की दुनिया में पहली बार किए गए इस सर्वेक्षण में लगभग 72,000 लोग शामिल थे। लेखकों ने पाया कि अधिकांश प्रतिभागियों ने वैज्ञानिकों को योग्य (78%), ईमानदार (57%) और लोगों की भलाई के बारे में चिंतित (56%) माना।

हालांकि, देशों के बीच महत्वपूर्ण अंतर देखा गया – विशेष रूप से, पश्चिमी देशों में दक्षिणपंथी राजनीतिक विचारों वाले लोग वामपंथी विचारों वाले लोगों की तुलना में वैज्ञानिकों पर कम भरोसा करते हैं। सर्वेक्षण के 83 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना था कि वैज्ञानिकों को विज्ञान के बारे में जनता के साथ संवाद करना चाहिए, और 52 प्रतिशत का मानना था कि वैज्ञानिकों को नीति-निर्माण प्रक्रिया में अधिक शामिल होना चाहिए। प्रतिभागियों ने सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार, ऊर्जा समस्याओं को हल करने और गरीबी को कम करने से संबंधित अनुसंधान को भी उच्च प्राथमिकता दी जाने की बात कही।

थोड़े में गुज़ारा होता है

❑

❑

डोमिनिक मान

लेखक स्वानुशासन विशेषज्ञ है

स्वया-अनुशासन से अपने पर नियंत्रण रखने की महात्मा गांधी की याद दिलाता हुआ यह आलेख जीवन में सादगी कि बात करता है। सं.

पाइथागोरस ने कहा था कोई भी व्यक्ति जो खुद को नियंत्रित नहीं कर सकता, स्वतंत्र नहीं है। अरस्तू कहता है स्वतंत्रता अनुशासन से मिलती है।

प्राचीन ग्रीस में, यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता था कि एक स्पार्टन योद्धा कम से कम तीन या चार गैर-स्पार्टन सैनिकों के बराबर होता है। वास्तव में, स्पार्टन्स का अनुशासन इतना शानदार था कि वे अपने दुश्मनों की भी प्रशंसा करते थे।

महान स्टोइक शिक्षक मुसोनियस रूफस ने उल्लेख किया है कि कठोर स्पार्टन जीवनशैली ने फारस के राजा की संपत्ति की तुलना में उनकी गरीबी को अधिक ईर्ष्यापूर्ण बना दिया। इसी तरह, प्रमुख यूनानी जीवनी लेखक प्लूटार्क ने लिखा, सभी यूनानी जानते हैं कि क्या सही है, लेकिन केवल स्पार्टन ही इसे करते हैं।

आज, आत्म-अनुशासन की आवश्यकता पहले जितनी महत्वपूर्ण होती थी उससे भी अधिक जरूरी हो गई है। यद्यपि यह वक्तव्य विरोधाभासी लग सकता है कि अनुशासन मुक्तिदायक होता है। किन्तु आत्म-अनुशासन हमें वह करने की शक्ति देता है जो हम वास्तव में चाहते हैं: अपने लक्ष्यों और एक रोमांचक और स्फूर्तिदायक जीवन की प्राप्ति।

दूसरी ओर, आत्म-अनुशासन की कमी हमें प्रतिकूल और अस्वस्थ इच्छाओं के आगे झुकने पर मजबूर कर देती है। वह हमारे जीवन को उस दिशा में ले जाती हैं जो हम वास्तव में नहीं चाहते। जैसा कि जिम रोहन ने कहा, हमें सभी को दो चीजों में से एक का सामना करना पड़ता है: अनुशासन का दर्द या पछतावे का दर्द।

अनुशासन को हम दर्द क्यों मानें, उसे आनंद क्यों न मानें? अनुशासन एक वैसी ही खुशी है जैसी बचपन में फिरकी घुमाते हुए हमें मिलती थी। हम जैसे-जैसे अनुशासन विकसित करते हैं अपने लक्ष्यों की ओर तेज़ी से आगे बढ़ते हैं। करके देखिए, आप महसूस करेंगे कि हर पल आपके अंदर उत्साह की एक बढ़ती हुई छटा छा रही है। जैसे-जैसे आप अपने जीवन पर हावी होते जाएंगे आप अपने सबसे बड़े लक्ष्यों पाते जाएंगे, आप एक स्पार्टन योद्धा की तरह महसूस करने लगेंगे।

लेकिन सबसे कठिन काम है शुरुआत करना और उस गति का निर्माण करना। स्पार्टन योद्धाओं की भांति हम ऐसे समाज में नहीं पले-बढ़े हैं जो हमारे आत्म-अनुशासन को विकसित करने के लिए सायास प्रयास करता है। अगर हम आत्म-अनुशासित होना चाहते हैं, तो हमें इसे अपने भीतर विकसित करना होगा। कोई और हमारे लिए ऐसा नहीं कर सकता

आत्म–अनुशासन कठिन नहीं है। यह केवल कठिन माना जाता है। यह सब एक भ्रम है – दृष्टिकोण का मामला है। ठंडे पानी से नहाने के लिए उस व्यक्ति के लिए अनुशासन की आवश्यकता नहीं है जिसके पास गर्म पानी की व्यवस्था ही नहीं है। स्वस्थ भोजन करने के लिए उस व्यक्ति के लिए अनुशासन की आवश्यकता नहीं है जिसके पास रसोई में जंक फूड है ही नहीं। मितव्ययी होने के लिए उस व्यक्ति के लिए अनुशासन की आवश्यकता नहीं है जिसके पास पैसे ही नहीं हैं। गति सीमा का पालन करने के लिए उस व्यक्ति के लिए अनुशासन की आवश्यकता नहीं है जो साइकिल पर चलता है।

स्पार्टन्स का मूल आधार सादगी है। वह दिखावा नहीं है। सादगी का अपना दर्शन है जो महात्मा गांधी ने हमें सिखाया।

ब्रूस ली ने कहा, सफल योद्धा एक औसत आदमी ही होता है, मगर उसका ध्यान लेजर की तरह होता है। विक्टर ह्यूगो ने 'द हंचबैक ऑफ़ नोट्रे डेम' को नग्न अवस्था में लिखा था। ह्यूगो ने अपने नौकर से एक निश्चित अवधि के लिए अपने कपड़े छुपाने को कहा था ताकि वह खुद को विचलित होने से रोक सके और इसके बजाय अपने काम पर ध्यान केंद्रित कर सके। हरमन मेलविले ने अपनी डेस्क से बंधे हुए 'मोबी डिक' लिखा था।

मेलविले ने अपनी पत्नी को मजबूर किया कि वह उसे डेस्क से बांधे ताकि वह खुद को काम पर ध्यान केंद्रित करने के लिए मजबूर हो सके।

कार्ल युंग ने जंगल में एक छोटे से पत्थर के टॉवर में अकेले दिन बिताकर मनोविज्ञान के क्षेत्र में क्रांति ला दी। वहां बिजली नहीं थी, पानी नहीं था। यहां तक कि कालीन या फर्श भी नहीं था। कोई यह भी कह सकता है कि वह बहुत ही संयमी था। पत्थर के टॉवर पर अपने समय के दौरान, जंग के पास अपने काम पर ध्यान केंद्रित करने के अलावा कोई विकल्प नहीं था।

कल्पना कीजिए कि अगर आप अपने जीवन को इस तरह के संयमी न्यूनतम जरूरतों के साथ अपनाएं तो आप कितना कुछ हासिल कर सकते हैं। जो आपको अपने लक्ष्यों की ओर ले जाता है उसके अलावा यदि आप अन्य सभी चीज़ों को छोड़ दें तो एक बात तो पक्की है कि अगर आप पहले से ही सफल नहीं हैं तो आप अपने लक्ष्य के बहुत करीब होंगे।

दुनिया के कई सबसे सफल लोगों ने सादगी और स्पार्टन न्यूनतावाद के माध्यम से ध्यान केंद्रित करने का अभ्यास किया है।

स्टीव जॉब्स, मार्क जुकरबर्ग और क्रिस्टोफर नोलन सभी हर दिन एक जैसे कपड़े पहनते हैं। इन्होंने पाया है कि अपने जीवन को जितना संभव हो सके उतना सरल बनाकर उत्कृष्टता प्राप्त करने के लिए अधिक जगह बनायी जा सकती है। जब उनसे पूछा गया तो जुकरबर्ग ने बताया कि हर दिन वही कपड़े पहनने से उन्हें आज़ादी मिलती है। इसी तरह, क्रिस्टोफर नोलन ने बताया कि जीवन के प्रति उनका संयमी दृष्टिकोण – जैसे कि हर दिन एक ही चीज़ पहनना – उन्हें अपने शिल्प पर अधिक ध्यान देने और रचनात्मकता पर अपने को केंद्रित करने में सक्षम बनाता है।❑

लिखो...

उदासी के चेहरे पे खुशियां लिखो!
कलम हाथ में ले के दुनिया लिखो !
नाव भी तुम लिखो और पतवार भी,
आंधियां भी लिखो और तूफां लिखो !
हार कर खुद ही सूरज चला जाएगा,
धूप में बैठ कर थोड़ी छाया लिखो !
खेलता, हंसता गाता, लड़कपन लिखो
झुर्रियों से भरा फिर बुढ़ापा लिखो !
झील झरने लिखो और नदियां लिखो,
झूमती नाचती गाती परियां लिखो!
हाथ में जब कलम अपने आ ही गई,
एक पल में ही तुम सारी
सदियां लिखो !

–इकराम राजस्थानी

अंतरिक्ष यात्री सुनीता विलियम्स और बुच विलमोर अन्य दो अंतरिक्ष यात्रियों के साथ स्पेसएक्स के ड्रैगन कैप्सूल के ज़रिए पृथ्वी पर लौट आए हैं। बीते साल जून में महज़ आठ दिनों के लिए अंतरराष्ट्रीय स्पेस स्टेशन पर गए ये दोनों एस्ट्रोनॉट नौ महीनों बाद लौट पाए हैं। ऐसा अंतरिक्ष उड़ानों के इतिहास में पहली बार हुआ।

286 दिनों तक स्पेस स्टेशन पर रहते हुए सुनीता विलियम्स और बुच विलमोर ने 900 घंटों तक रिसर्च किया और इस दौरान 150 वैज्ञानिक प्रयोग किए। स्पेस स्टेशन पर रहते हुए सुनीता ने अंतरिक्ष में पौधे उगाने पर शोध किया। 'प्लांट हैबिटेट–07' परियोजना के अंतर्गत उन्होंने शून्य–गुरुत्वाकर्षण के वातावरण में 'रोमेन लेटच्यूस' नामक लेटच्यूस (एक प्रकार का सलाद) का पौधा उगाया। सं.

कहानी अंतरिक्ष में अप्रत्याशित होने की

❑

सुनीता विलियम्स का जन्म अमेरिका के ओहायो में 1965 में हुआ था और यहीं उनका पालन–पोषण हुआ। उनके पिता दीपक पंड्या भारतीय हैं जिनका जन्म गुजरात के मेहसाणा जिले के गांव झूलासन में हुआ। यह गुजरात की राजधानी गांधीनगर से 40 किलोमीटर उत्तर में स्थित है।

दीपक पंड्या अहमदाबाद से डॉक्टरी की पढ़ाई पूरी करने के बाद अपने भाई के पास अमेरिका चले गए जहां रहते हुए उन्होंने स्लोवेनियाई मूल की उर्सुलिन बोनी से विवाह किया जिनसे उनके तीन बच्चे हुए। सुनीता उनमें एक हैं। इस प्रकार सुनीता के पिता हिंदू और मां कैथोलिक हैं लेकिन उनके पिता ने अपने बच्चों को सभी धर्मों के लोगों का सम्मान करना सीखाया।

डॉक्टर दीपक पंड्या रविवार को भगवद्गीता लेकर चर्च जाते थे और अपने बच्चों को रामायण और महाभारत

सुनीता विलियम्स ने कब किया कितना स्पेसवॉक?

16 दिसंबर 2006 -	7 घंटे 31 मिनट
31 जनवरी 2007 -	7 घंटे 55 मिनट
04 फरवरी 2007 -	7 घंटे 11 मिनट
08 फरवरी 2007 -	6 घंटे 40 मिनट
30 अगस्त 2012 -	8 घंटे 17 मिनट
05 सितंबर 2012 -	6 घंटे 28 मिनट
01 नवंबर 2012 -	6 घंटे 38 मिनट
16 जनवरी 2025 -	6 घंटे 00 मिनट
30 जनवरी 2025 -	5 घंटे 26 मिनट

की कहानियां सुनाते थे। इससे उनके बच्चों में भारतीय परंपरा से जुड़ाव भी विकसित हुआ।

सुनीता विलियम्स ने अपने अंतरिक्ष मिशन के बाद 2007 और 2013 में दो बार झूलासन का भी दौरा किया था।

सुनीता को शुरू से ही व्यायाम और खेलकूद पसंद रहे और तैराकी तो बहुत अधिक पसंद रही। सुनीता ने अपने भाई-बहनों के साथ तैरना सीखा और सुबह-शाम दो-दो घंटे तैराकी करती थी। वह छह साल की उम्र से ही तैराकी प्रतियोगिताओं में भाग लेकर कई पदक भी जीत चुकी हैं।

पशुओं से उसे खासा लगाव है। यही वजह है कि एक समय वह पशु चिकित्सक बनना चाहती थीं। इसके लिए उन्होंने आवेदन भी किया लेकिन उन्हें पसंदीदा कॉलेज में सीट नहीं मिली। उन्होंने अपने भाई के सुझाव पर अमेरिकी नौसेना अकादमी में दाखिला लिया और फिर समय उन्हें दूसरे रास्ते पर आगे ले गया।

सुनीता के साहस की असली उड़ान संयुक्त राज्य नौसेना अकादमी से शुरू हुई। 1983 में सुनीता ने अकादमी में प्रवेश लिया और उन्होंने 1987 में भौतिक विज्ञान में डिग्री भी हासिल की। नौ सेना अकादमी से प्रशिक्षण पूरा करने के बाद वह 1989 में प्रशिक्षु पायलट के रूप में नौसेना में शामिल हुई। इसके बाद उन्होंने कई प्रकार के 30 विमानों में 2700 घंटे से अधिक उड़ान भरी है। इससे पहले उन्होंने नौसेना एविएटर के रूप में भी काम किया।

सुनीता की अपने पति माइकल विलियम्स से पहली मुलाकात नौसेना अकादमी में ही हुई जो आगे चलकर प्यार और फिर शादी में बदल गई। माइकल विलियम्स भी पायलट हैं और इस समय पुलिस अधिकारी के रूप में काम कर रहे हैं।

सुनीता विलियम्स 1993 में मैरीलैंड स्थित नौसेना परीक्षण पायलट स्कूल में प्रशिक्षण ले रही थी कि इस दौरान उन्हें ह्यूस्टन स्थित जॉनसन स्पेस सेंटर जाने का मौका मिला। यहां उन्होंने चंद्रमा पर उतर चुके अंतरिक्ष यात्री जॉन यंग के साथ काम किया और उन्हीं से प्रेरित होकर सुनीता ने अंतरिक्ष में उड़ने का सपना देखा। उन्होंने अंतरिक्ष यात्राओं के लिए नासा में आवेदन किया लेकिन नासा ने पहली बार में इसे स्वीकार नहीं किया। फिर उन्होंने अंतरिक्ष में जाने के लिए ही 1995 में फ्लोरिडा इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी से इंजीनियरिंग प्रबंधन में मास्टर डिग्री प्राप्त की और 1997 में फिर से आवेदन किया। इस बार नासा ने आवेदन स्वीकार कर लिया और 1998 में प्रशिक्षु अंतरिक्ष यात्री के रूप में उन्हें चुना गया। आखिरकार आठ साल बाद 9 दिसंबर 2006 को वह मौका आया जब वह अंतरिक्ष में पहुंचीं। वह भारतीय मूल की दूसरी अमेरिकी अंतरिक्ष यात्री हैं।

सुनीता विलियम्स करीब 12 साल पहले अप्रैल में भारत आई थी। इस दौरान उन्होंने दिल्ली के नेशनल साइंस सेंटर में छात्रों से मुलाकात कर अपनी अंतरिक्ष यात्रा के अनुभव साझा किये थे।

भारतीय खाने की तारीफों के पुल बांधते हुए सुनीता ने कहा था कि भारतीय खाने से कोई ऊब ही नहीं सकता। उन्होंने ये राज़ भी छात्रों से साझा किया कि वे अंतरिक्ष में खाने के लिए समोसे और पढ़ने के लिए उपनिषद् और गीता लेकर गईं थी।

उन्होंने तब छात्रों से अपील की कि वे वही काम करें, जिनमें उन्हें मज़ा आता है। ❑

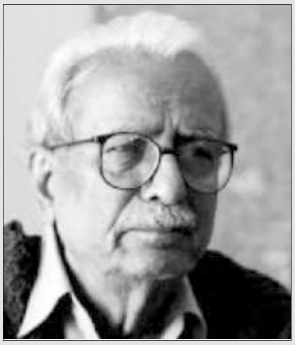

❑

विनोद कुमार शुक्ल

साहित्य का प्रतिष्ठित ज्ञानपीठ सम्मान इस बार हिंदी के कवि–कथाकार विनोद कुमार शुक्ल को दिए जाने की घोषणा हुई है। छत्तीसगढ़ के राजनांदगांव में 1 जनवरी 1937 को जन्मे विनोद कुमार शुक्ल हिंदी के उन साहित्यकारों में से हैं, जिन्होंने साहित्य और भाषा में अपने मुहावरे गढ़े हैं। भारत में तो उन्हें कई सम्मान मिले ही हैं, दो साल पहले उन्हें पेन अमेरिका ने अंतरराष्ट्रीय ख्याति के लिए नाबोकॉव अवार्ड से भी सम्मानित किया था। उनकी एक भेंटवार्ता। सं.

मेरे लिखने के लिए अभी बहुत कुछ बचा हुआ है...

❑

पुरस्कार मिलने की घोषणा पर शुक्ल ने कहा, ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने से मुझे खुशी हुई। मैं अभी भी यह महसूस करता हूं कि मैं क्या कुछ और लिख सकता हूं, उसे लिखूं। मैं यह भी महसूस करता हूं कि मेरे लिखने के लिए अभी बहुत कुछ बचा हुआ है।''

विनोद कुमार शुक्ल बीबीसी के दिल्ली स्टूडियो आए थे। उनसे बात की थी पूर्व बीबीसी संपादक निधीश त्यागी और पूर्व बीबीसी संवाददाता अमरेश द्विवेदी ने:

अमरेश द्विवेदी – आपके जीवन की शुरुआत से अगर हम बात करें तो आपके लेखक बनने की प्रक्रिया कैसे शुरू होती है?

विनोद कुमार शुक्ल – ये बताना तो बहुत ज़्यादा मुश्किल है कि मैं लेखक कैसे बन गया। लेकिन तब भी घर में इस तरह का वातावरण तो ज़रूर था। सभी लिखते थे। मेरा ख्याल है कि किसी को पढ़ते हुए देखकर मेरी भी इच्छा होने लगी हो कि मैं भी लिखकर देखूं। मेरे चचेरे बड़े भाई कविताएं लिखा करते थे।

दूसरी ये बात है कि मेरी मां का बचपन जो है वो आज के बांग्लादेश के जमालपुर में बीता। मेरे नाना कानपुर के थे और किसी व्यापार के सिलसिले में बांग्लादेश चले गए थे। जब अम्मा नौ–दस साल की थीं तो लौट कर आ गईं। नाना की मौत हो गई थी। बल्कि दंगों वगैरह की वजह से उनकी हत्या कर दी गई थी।

तो अम्मा जब लौट करके आईं तो अपने साथ अपनी गठरी में वो कुछ बंगाल के संस्कार भी लेकर आईं। मेरी रुचि बनने में अम्मा का भी बहुत बड़ा हाथ है। जब मैं बहुत छोटा था तो मेरे पिता चल बसे थे, बहुत धुंधली यादें हैं उनकी। हमारा संयुक्त परिवार था।

एक बार बहुत मुश्किल से मैंने दो रुपए बचाए थे। मैंने अम्मा से पूछा कि अम्मा मैं इनका क्या करूं तो अम्मा ने मुझसे कहा कि कोई अच्छी किताब खरीद लो। और अच्छी किताब के रूप में उन्होंने शरत चंद्र का नाम लिया, बंकिम का नाम लिया, रवींद्रनाथ टैगोर का नाम लिया।

तब मैंने अपने बचाए हुए पैसों से सबसे पहली किताब 'विजया' ख़रीदी शरतचंद्र की। उस किताब को मैंने पढ़ने की कोशिश की। अम्मा

हमेशा मुझसे कहती थीं कि जब भी पढ़ना तो संसार की सबसे अच्छी किताब पढ़ना। उस तरह से मेरा ध्यान तो ज़रूर रहा कि मुझे लिखना है। लिखने की कोशिश में जब भी मैं किसी प्रकार की मुश्किल में पड़ता था तो मुश्किल तो ये होती थी कि ठीक-ठीक अपनी मौलिकता को पाना बहुत कठिन काम है। यानी आप लिखें तो अपना ही लिखें। तो इसकी शुरुआत बचपन से ही हो गई थी और इसका कारण भी अम्मा ही थीं।

एक बार क्या हुआ कि लिखते-लिखते भवानी प्रसाद मिश्र की ये पंक्ति 'मैं गीत बेचता हूं' मेरी कविता में आ गई। तो मेरे चचेरे बड़े भाई ने मुझसे कहा कि ये तो भवानी प्रसाद मिश्र की कविता की पंक्ति है ये तुम्हारे में कैसे आई। और वो कुछ नाराज़ भी हुए तो मुझे बहुत दुख हुआ।

मुझको चोरी से बहुत डर लगता था। संयुक्त परिवार में रहते थे। वहां हर किसी की चीज़ इधर से उधर हो जाया करती थी। हम लोग चूंकि आश्रित थे तो हर बार ये लगता था कि कहीं कोई ये न सोच ले कि हमने ले ली। क्योंकि परिवार में लोगों के पास अच्छी चीज़ होती थी, अच्छे खिलौने होते थे। दूसरे मेरे सारे चाचा काफी संपन्न थे। तो मेरे लिए बड़ी मुश्किल होती थी। तो मुझे चोरी से बहुत डर लगता था।

जब अम्मा ने उस दौरान कहा कि कुछ कर क्यों नहीं रहे हो तब फिर मैंने यही कहा कि मैंने एक कविता लिखी, लेकिन न जाने कहां से उसमें भवानी प्रसाद मिश्र की कविता की पंक्ति आ गई, मैं तो नहीं जानता कि ये कैसे आ गई। 'मैं गीत बेचता हूं' ये बहुत लोकप्रिय कविता थी।

> साहित्य में जिस तरह की स्थितियां हैं, यथार्थ के पीछे लोग हाथ धोकर पड़ गए हैं। लेकिन ज़िंदगी में यदि केवल यथार्थ हो तो जीना बहुत मुश्किल हो जाएगा। जब हम कहीं किसी कठिनाई में होते हैं, बहुत दुखी होते हैं, बहुत परेशान होते हैं तो किसी बहुत क़रीबी व्यक्ति के पास जाते हैं और ये सोचकर अपना दुख उससे कह देते हैं कि दुख हल्का हो जाएगा और हमारा क़रीबी समझाने के लिए यही कहता है कि सब ठीक हो जाएगा। तो 'सब ठीक हो जाएगा' जो कथन है यही सबसे बड़ी फैंटेसी है।

इन सब चीज़ों में अपनी याददाश्त में, अपने अंदर बस जानेवाली रचनाओं के बाद में अपनी रचनाओं को पाना बड़ा कठिन काम था। तब मैंने अम्मा से कहा कि फिर मैं क्या करूं। तो अम्मा ने मुझसे कहा कि देखो अपनी छननी भी बनाओ। जैसे हम चाय बनाते हैं तो चाय की छननी होती है, आटे की छननी होती है, मैदे की छननी होती है, इसी तरह अलग-अलग चीजों की छननी होती है। तुम भी अपने लिखने की छननी बनाओ कि तुम्हारा लिखा ही तुम्हारे पास में रहे। दूसरों का लिखा तुम्हारे पास में न आए।

तो एक अतिरिक्त किस्म की छान देने वाली ज़िम्मेदारी मेरी रचना के साथ में स्वत: पता नहीं कैसे आई, ये मैं नहीं जानता। इस बात की कोशिश रहती थी कि दूसरे का लिखा मेरे लिखे में न आ जाए। अपने लिखे पर बार-बार ज़ोर देने से इसकी शुरुआत हुई।

अमरेश – कितनी उम्र रही होगी उस समय आपकी?

विनोद शुक्ल – मेरा ख्याल है कि 12-13-15 साल की उम्र रही होगी कि मैं ठीक-ठीक से कविता लिख रहा हूं या कहानी लिख रहा हूं।

अमरेश – हिंदी साहित्य में कहा जाता है कि आपकी रचनाओं में 'मैजिक रिएलिज़्म' है, यानी एक तरह का जादुई संसार उसमें उभर कर आता है। जो भी क्रांतदर्शी, यथार्थवादी लेखक होता है वो बहुत इमैजिनरी होता है, वो सोचता है और यथार्थ को लिखने की कोशिश करता है। इस 'मैजिक रिएलिज़्म' की शुरुआत कहां से कैसे हुई?

विनोद शुक्ल – जादुई स्थितियां जिसको कहा जाता है ये एक बहुत अद्भुत चीज़ है। ये कहीं से आता नहीं है, ये अपने आप होता है। हम जो नहीं कर सकते उसको करने की कोशिश करते हैं। चिड़िया उड़ सकती है लेकिन हम नहीं उड़ सकते लेकिन उड़ने की कल्पना तो कर सकते हैं।

तो ये जादुई स्थितियां शुरू से हैं, ये कहीं बाहर से नहीं आतीं। अभी साहित्य में जिस तरह की स्थितियां हैं, यथार्थ के पीछे लोग हाथ धोकर पड़ गए हैं। लेकिन ज़िंदगी में यदि केवल यथार्थ हो तो जीना बहुत मुश्किल हो जाएगा। जब हम कहीं किसी कठिनाई में होते हैं, बहुत दुखी होते हैं, बहुत परेशान होते हैं तो किसी बहुत क़रीबी व्यक्ति के पास जाते हैं और ये सोचकर अपना दुख उससे कह देते हैं कि दुख हल्का हो जाएगा और हमारा क़रीबी समझाने के लिए यही कहता है कि सब ठीक हो

जाएगा। तो 'सब ठीक हो जाएगा' जो कथन है यही सबसे बड़ी फैंटेसी है। और सब ठीक कभी नहीं होता है। लेकिन यथार्थ से लड़ने का ये सबसे बड़ा हथियार भी है जो हमें ताक़त देता है। बिना इस ताक़त के हम यथार्थ के साथ लड़ नहीं सकते। तो फैंटेसी को एक ताक़त मानकर चलना चाहिए। यथार्थ एक तरह से आपको इतना व्यवहारिक बनाने की कोशिश करता है, डराता है कि आप उसके साथ कभी नहीं लड़ सकते। घर के सामने अगर किसी की हत्या होती हो तो हम सारे खिड़की दरवाज़े बंद कर लेंगे। हम बाहर निकल कर नहीं आएंगे, कोई बाहर नहीं आएगा। लेकिन इसी हत्या को हम किसी नाटक में देखें या किसी कथा में पढ़ें तो उसके प्रति हम दूसरे तरीके से ताकत पाते हैं और शायद ये ताकत हमारी समझ की है। यथार्थ से लड़ने की ताकत तो तभी आएगी जब हमारी समझ बनेगी और रचना ये समझ हमको देती है।

अमरेश – कहा जाता है कि मुक्तिबोध ऐसे लेखक थे जिन्होंने अपने समय से आगे देखा और चूंकि उस देखे हुए को वो उस तरह से नहीं कह सकते थे इसलिए शायद उन्होंने फैंटेसी का आवरण लिया। तो वो जो फैंटेसी है, वो जो बुनावट है, वो जो बात कहने की कला है और जिसमें बहुत गहरी बात कहने की कला है, उसकी प्रेरणा आपमें कहीं है क्या?

विनोद शुक्ल – देखिए प्रेरणा तो सब जगह है। किसी की रचना दूसरे की रचना की प्रेरणा होती है। प्रभाव दूसरी चीज़ है, मौलिकता दूसरी चीज़ है। एक अच्छा प्रभाव अच्छी प्रेरणा ही है लिखने की। अगर ये न हो तो आदमी अपनी रचना के साथ अकेला हो जाएगा। रचना हमें उस तरह से अकेला होने का मौक़ा नहीं देती है। हम जब भी अकेले होते हैं तो कोई न कोई रचना हमारे साथ होती है। जहां तक आपने फैंटेसी की बात की, मुझे लगता है कि ये जन्मजात जैसी स्थिति है। किसी नवजात बच्चे के सामने तो यथार्थ पूरी तरह से गैरहाज़िर है, वो तो बिल्कुल नहीं जानता यथार्थ को। तब भी उसमें बुद्धि तो होती है, तब भी वो सोचता तो ज़रूर होगा। मेरा ख़्याल है कि उसके आसपास जो कुछ भी है वो सब फैंटेसी ही है। मां भी एक फैंटेसी के रूप में उसके पास होती है। धीरे-धीरे वो फैंटेसी जो है वो यथार्थ के रूप में चुनाव और अनुभव के ज़रिए उसे पाता है। तो यथार्थ तो एक ऐसा अनुभव है जो धीरे-धीरे आदमी अपने साथ जीने की स्थितियों में उसके क़रीब होता हुआ चला जाता है और अनुभव का संसार उसका इकट्ठा और बड़ा होने लगता है। लेकिन तब भी जितना वो इकट्ठा कर पाता है वो बहुत थोड़ा होता है। हमें हर हालत में अपनी कल्पना का भी विकास करना होता है और यथार्थ के साथ ही कल्पना का विकास होता है।

अमरेश – आपकी जो दो प्रमुख रचनाएं हैं 'नौकर की कमीज़' और 'दीवार में खिड़की रहती थी', चाहे वो संतू बाबू हों या रघुबर बाबू, इन दोनों में विनोद कुमार शुक्ल कितने हैं।

विनोद शुक्ल – मेरा ख़्याल है कि पूरे हैं। रचनाकार अपनी रचना में पूरा होता है। जो नहीं होता है वह भी होता है, जो होना चाहिए वह भी होता है। जब हम लिखते हैं तो सबसे पहले हमारी नज़र अपने पर पड़ती है, अपनी

ज़िंदगी पर पड़ती है, अपने होने पर पड़ती है। लेकिन इस अपने होने में दूसरे भी शामिल होते हैं। परिवार, पास-पड़ोस, दुनिया सब पर हमारी नज़र पड़ती है। अपनी ज़िंदगी को दूसरों की ज़िंदगी के साथ जोड़कर हम सारा कुछ जान लेना चाहते हैं। और फिर हम वही बताते हैं जो लगता है कि इसके बारे में बता देना चाहिए।

निधीश त्यागी – मैं ये पूछना चाहता था कि आपके लेखन में जो सहजता है, एक ग़ज़ब का कौतुक उसमें हमेशा दिखाई पड़ता है। कुछ से मैं खुद को जोड़ पाता हूं क्योंकि जीवन का कुछ हिस्सा मेरा छत्तीसगढ़ में बीता है। आप अपनी अनुभूतियों को कैसे बढ़ाते हैं। आपके भीतर बहुत सारा जंगल, प्रकृति और पृथ्वी है जो दुनियादारी, शहर और महानगर से बचा हुआ है। उसे आप कैसे बचाकर रखते हैं और आगे बढ़ाते हैं और बदले में वो आपको कैसे बदलता है।

विनोद शुक्ल – मैं जब भी लिखने की कोशिश करता हूं तो मेरे सामने एक दृश्य होता है। मैं लिखे जानेवाले संसार की बात सोचता हूं अपने संसार से। मेरा लिखने का जो कुछ भी भूगोल है वह सारा छत्तीसगढ़ का है। अगर कहीं दूसरे देश में होता हूं तो वहां के अनुभवों को भी छत्तीसगढ़ से ही जोड़कर देखता हूं। जब मैं पहली बार विदेश गया तो वहां के सूर्योदय को मैंने छत्तीसगढ़ के सूर्योदय जैसा ही पाया। कह सकता हूं कि मेरी वैश्विकता छत्तीसगढ़ की ही है, दूसरी वैश्विकता पाना मेरे लिए बहुत कठिन है।

निधीश – आपकी रचनाओं में गति और शोर नहीं है। गति और शोर के बाहर की जो दुनिया है और जिसमें हम रहते हैं उससे खुद को काट कर रख पाना आपके लिए कैसे संभव होता है।

विनोद शुक्ल – देखिए जीवन जीने में भी मैं इनसे बचता हूं तो शायद ये कारण होगा कि लिखते समय भी मैं इससे बचता हूं। मैंने आपसे कहा था कि मैं अपने बारे में ही लिखता हूं। 'नौकर की कमीज़' के बहुत बाद में जो उपन्यास मैंने लिखा 'हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़' में आया। फिर उसके बाद 'खिलेगा तो देखेंगे' आया। और अभी जो उपन्यास मैं लिख रहा हूं उसमें शायद मेरा बुढ़ापा आएगा। तो जिस तरह जीने की मेरी अपनी इच्छा-सी बन गई है, मेरा ख़्याल है कि मेरे रचना संसार में भी वैसी ही स्थितियां नज़र आती हैं या शायद मैं वैसा ही लिखना पसंद करता हूं।

निधीश – आपकी रचनाओं के जो मुख्य चरित्र हैं उसमें कोई अच्छा या बुरा नहीं है। वो सामान्य से लोगों की दिलचस्प कहानियां हैं। उनमें आप कहीं किसी का पक्ष लेते नज़र नहीं आते, कोई संदेश देते नज़र नहीं आते।

मैं जब भी लिखने की कोशिश करता हूं तो मेरे सामने एक दृश्य होता है। मैं लिखे जानेवाले संसार की बात सोचता हूं अपने संसार से। मेरा लिखने का जो कुछ भी भूगोल है वह सारा छत्तीसगढ़ का है। अगर कहीं दूसरे देश में होता हूं तो वहां के अनुभवों को भी छत्तीसगढ़ से ही जोड़कर देखता हूं। जब मैं पहली बार विदेश गया तो वहां के सूर्योदय को मैंने छत्तीसगढ़ के सूर्योदय जैसा ही पाया। कह सकता हूं कि मेरी वैश्विकता छत्तीसगढ़ की ही है, दूसरी वैश्विकता पाना मेरे लिए बहुत कठिन है।

विनोद शुक्ल – मैं कोई उस तरह का संदेश नहीं देता। मेरे पास उस तरह से बताने के लिए कुछ भी नहीं है। मुझे लगता है कि मेरी कोई ज़िम्मेदारी अगर बनती है तो वो मनुष्य होने की ज़िम्मेदारी है। मेरा अत्यंत सामान्य जीवन रहा। कोई उस तरह की बड़ी घटना नहीं हुई। दुख तो मुझको भी मिला है जीवन जीने में, लेकिन मैं अपने दुख को बहुत छोटा मानता हूं। मेरा दुखी न होना उसमें कहीं न कहीं आशा ज़रूर है। मैं अपनी रचनाओं में उसी आशा के साथ खड़ा हूं।

निधीश– मुक्तिबोध से आपकी मुलाकातें हुई होंगी। क्या आप बताना चाहेंगे कि वो कैसी मुलाकातें थीं।

विनोद जी – संभवत: सन् 1958 में मुक्तिबोध राजनांदगांव के दिग्विजय कॉलेज में आए थे। मेरे बड़े भाई जिनका हाल ही में निधन हो गया वो वहां एमए के विद्यार्थी थे। मुझे तब जानकारी नहीं थी कि मुक्तिबोध इतने बड़े कवि हैं। मेरे चाचाजी कॉलेज के पहले प्राचार्य थे। तो उनके पास एक किताब मैंने देखी जिसमें अज्ञेय ने वह किताब मुक्तिबोध को सप्रेम भेंट की थी। तब तक मैंने अपनी कविता उन्हें नहीं दिखाई थी लेकिन ये चर्चा थी कि मुक्तिबोध एक बड़े कवि के रूप में राजनांदगांव आए हुए हैं। मेरे बड़े भाई मुझे लेकर उनके पास गए। मैंने उन्हें अपनी कविताएं दिखाईं। सबसे पहले मेरी कविता देख कर उन्होंने कहा कि ये कविताएं लिखना बहुत मुश्किल काम है। उन्होंने कहा कि पहले अच्छी पढ़ाई-लिखाई करनी चाहिए और

नौकरी कर लेनी चाहिए। उसके बाद में सोचना चाहिए कि कविता वगैरह करनी है या नहीं करनी है। मुझे लगा कि मेरी कविताएं उन्हें पसंद नहीं आईं। लेकिन मैंने लिखना बंद नहीं किया। बाद में उन्होंने मुझे एक बार बुलवाया और मेरी आठ कविताओं को पढ़ने के बाद उन्हें श्रीकांत वर्मा के पास भेज दिया जो प्रकाशित हुईं। ये मेरी कविताओं का पहला प्रकाशन था। बाद में मुक्तिबोध जी ने मुझे अपनी कविताओं का पाठक भी माना। उन्हें लगता था कि वो मुझे अपनी कविताएं सुना सकते हैं। मैं उनकी कविताएं समझ तो नहीं पाता था लेकिन यही सोचकर सुनता था कि मैं एक बड़े रचनाकार की कविताएं सुन रहा हूं।

निधीश – 'दीवार में खिड़की रहती थी' का नाट्य रूपांतर हुआ या फिर 'नौकर की कमीज़' पर फिल्म बनी। अब आपकी किताब के अंग्रेज़ी अनुवाद आ रहे हैं। मेरा सवाल है कि जो लोग छत्तीसगढ़ में नहीं रहे वो लोग जब आपकी रचनाओं को अलग-अलग रूप में अपनाते हैं तो रचना की पारिस्थितिकी के साथ कितना न्याय कर पाते हैं।

विनोद शुक्ल – वैसा नहीं हो पाता है। बदल देते हैं। स्थितियां बदल जाती हैं। कई बार मुझको लगता है कि जो मूल रचना है वो आधार रचना जैसी बन जाती है। वो एक घटना जैसी बन जाती है और अनुवाद जो है वो उस घटना के क़रीब दूसरी घटना सी बन जाती है। कुछ तो इतना बदल देते हैं कि लगने लगता है कि ये कैसा अनुवाद है।

जहां तक मेरी रचनाओं पर फिल्म निर्माण की बात है तो मेरा मानना है कि फिल्म निर्देशक की ही कृति है। मणि कौल ने 'नौकर की कमीज़' पर जो फिल्म बनाई वो उनकी अपनी कृति है। यहां न्याय या अन्याय जैसी बात नहीं होनी चाहिए। अनुवाद की बात अलग है।

निधीश – कई भाषाओं के लेखकों की रचनाएँ अंग्रेज़ी में अनुदित हो कर आ रही हैं। मुरोकामी जापान से अंग्रेज़ी में आए, कई ईरानी रचनाकारों की रचनाएं भी अंग्रेज़ी में आ रही हैं, लैटिन अमरीकी लेखकों की रचनाएं हम पढ़ पा रहे हैं, लेकिन हिंदी की रचनाओं के साथ ये बात क्यों नहीं दिखाई पड़ रही है।

विनोद शुक्ल – हिंदी तो दबी ज़बान के रूप में ही रही। लेकिन एक दिन इस पर नज़र ज़रूर पड़ेगी मजबूरी में ही। मेरा मानना है कि दूसरी भाषाओं में जैसा लिखा जा रहा है उससे हिंदी का स्तर कम नहीं है। लेकिन ये सच है कि हिंदी की रचनाओं का जितना और जैसा अनुवाद होना चाहिए वैसा नहीं हो रहा। ये हिंदी के लिए क्षति वाली बात है।

निधीश – हिंदी का तेज़ी से उभरता एक साक्षर समाज खड़ा हुआ है। लेकिन बौद्धिक विमर्श की जगह हमारे घरों में, हमारे मोहल्लों में सिमटी है, बदली है या कम हुई है। आपको क्या लगता है?

विनोद शुक्ल – बौद्धिक विमर्श की स्थितियां हिंदी में सचमुच कम हुई हैं। मुझे लगता है कि हमारे यहां गप्प की राजनीति ज़्यादा है। ऐसा लगता है जैसे हमारी सारी चिंता राजनीति में ही समाप्त हो जाती है। हम अधिक से अधिक बौद्धिक होने की कोशिश करें ऐसी कोई कोशिश नज़र नहीं आती। साहित्य में ये बात है, हालांकि विज्ञान की बौद्धिकता बची हुई है, दूसरे विषयों की बौद्धिकता बची हुई है लेकिन साहित्य की बौद्धिकता खतरे में है। हम ज़िंदगी को मनोरंजन के स्तर पर ज्यादा जीने की कोशिश करते हैं। मनोरंजन हमारी ज़िंदगी का ऐसा हिस्सा हो गया है जैसे उसके बिना हमारा पेट भरता नहीं है। साहित्य, बौद्धिकता या विमर्श हमारे परिवार की परंपरा नहीं बनी है। हमें अपने बच्चों से बौद्धिक तौर पर बातचीत करनी चाहिए। मैं अपनी नतिनी के साथ पूरी बौद्धिकता के साथ बातचीत करता हूं।

अमरेश–आज के भूमंडलीकरण, निजीकरण के दौर में हिंदी का भविष्य क्या देखते हैं आप?

विनोद जी – हिंदी अपने दम पर आगे बढ़ रही है। इसका जीवन बहुत छोटा क़रीब 100 साल का है। दक्षिण की कई आंचलिक भाषाएं हिंदी से भी पुरानी हैं। एक बात है जब तक राष्ट्रीयता नहीं बनेगी, तब तक आंचलिकता भी नहीं बनेगी। जब तक ठीक-ठीक आंचलिक नहीं होंगे तब तक राष्ट्रीय भी होना मुश्किल है। हमारी राजनीति ने आंचलिकता को भी ख़राब किया है और राष्ट्रीयता को भी ख़राब किया है।❑

प्रहलाद कक्कड़

कुछ समय पहले प्रकाशित अपनी आत्मकथा 'ऐडमैन मैडमैन' में उन्होंने अपने जीवन से संबंधित कई अनुभवों को साझा किये हैं। बीबीसी हिंदी के रेहान फ़ज़ल इस पुस्तक के बारे में यहां बता रहे हैं। सं।

ऐश्वर्या राय को पहला ब्रेक देने के बाद 'ये दिल मांगे मोर'

सन 1971 में तीन सौ रुपए और बहुत सारे सपनों के साथ प्रहलाद कक्कड़ बॉम्बे सेंट्रल स्टेशन पर उतरे थे। अपने शुरुआती संघर्ष के दिनों में वो रेलवे स्टेशनों की सीटों और अपने दोस्तों के घरों के सोफ़ों पर सोए थे।

प्रहलाद कक्कड़ का जन्म 24 मार्च, 1951 को तब के इलाहाबाद (अब प्रयागराज) में हुआ था। उनके पिता लेफ़्टिनेंट कर्नल अमीर चंद कक्कड़ पाकिस्तान के डेरा इस्माइल ख़ाँ के रहने वाले थे जबकि उनकी माँ शशिकला कक्कड़ बर्मी और मराठी मूल की थीं।

बंबई पहुँचने के बाद श्याम बेनेगल ने उन्हें 350 रुपए के वेतन पर अपने साथ रख लिया। उन्होंने बेनेगल की कई विज्ञापन फ़िल्मों में उनकी मदद की।

सन 1978 में प्रहलाद ने अपनी ऐड कंपनी जेनेसिस शुरू की। इसके बाद उन्होंने लोकप्रिय विज्ञापनों की झड़ी लगा दी जिन्होंने उन्हें भारत के शीर्ष 'ऐडमैन' की श्रेणी में ला खड़ा किया।

उनके सबसे पहले लोकप्रिय होने वाले विज्ञापनों में 'प्रॉमिस' टूथपेस्ट का विज्ञापन था। इसके लिए प्रहलाद ने डॉ। माया अलघ को चुना।

प्रहलाद लिखते हैं, माया ने ही टैगलाइन का अनुवाद किया। ओफ़्फ़ो एक और नया टूथपेस्ट। ये जुमला पूरे भारत में छा गया। माया अलघ हमेशा के लिए 'ओफ़्फ़ो प्रॉमिस लेडी' बन गईं। ब्रैंड ने यकायक टूथपेस्ट के बाज़ार में 4 फ़ीसदी की जगह बना ली। ये उस ज़माने में बहुत बड़ी उपलब्धि थी क्योंकि उनका मुक़ाबला 'कोलगेट' और बिनाका जैसे ब्रैंडों से था।

इन ब्रैंडों ने बाद में सफ़ाई दी कि वो भी अपने टूथपेस्ट में लौंग के तेल का इस्तेमाल करते हैं लेकिन माना यही गया कि सिर्फ़ 'प्रॉमिस' ही लौंग के तेल का इस्तेमाल करता है।

इसके बाद मैगी के विज्ञापन ने सबका ध्यान अपनी तरफ़ खींचा।

प्रहलाद लिखते हैं, भारत में अधिकतर लोगों को दाल-चावल, साँभर-चावल, मछली-चावल, राजमा-चावल खाने की आदत थी

इसलिए 'नेस्ले' के नए नूडल उत्पाद को लॉन्च करना एक बहुत बड़ा जोखिम का काम था लेकिन 'नेस्ले' इस मुहिम में ख़ासा पैसा लगाने के लिए तैयार था। टार्गेट ऑडिएंस को बहुत सावधानी से चुना गया। थकी हुई घरेलू महिलाएं और पाँच से दस साल के बीच के भूखे बच्चे जो कि भी अभी स्कूल या खेल-कूद कर घर लौटे हैं। उन्हें खाने के लिए कुछ चाहिए, तुरंत।

इस शूट में एक बच्चे के पास एक छोटा बालों वाला कुत्ता था जिसे वह किसी कीमत पर छोड़ने के लिए तैयार नहीं था इसलिए हमने उसे भी विज्ञापन में शामिल किया। इसके बाद की चीज़ें इतिहास है।

इसके लिए हमने लुई बैंक्स से जिंगल तैयार करवाया। मैगी नूडल आज भी उसी जिंगल का इस्तेमाल करता है।

वैसे तो प्रहलाद शुरू से ही सॉफ़्ट ड्रिंक के विज्ञापन बनाते रहे हैं। गोल्ड स्पॉट के विज्ञापन में उन्होंने रंगमंच के कलाकार जयंत कृपलानी को मौका दिया था लेकिन जिस सॉफ़्ट ड्रिंक एड ने उन्हें राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया वो पेप्सी का विज्ञापन था।

ये एक अंतरराष्ट्रीय ऐड था जिसमें माइकल फ़ॉक्स को शूट किया गया था, उनको उसे भारतीय दर्शकों के लिए बनाने की ज़िम्मेदारी सौंपी गई थी। प्रहलाद लिखते हैं, हमारी समस्या ये थी कि अगर हम अच्छा ऐड बनाते हैं तो लोग कहेंगे कि हम नकलची हैं। अगर हम इसे बुरा बनाते हैं तो लोगों की प्रतिक्रिया होगी कि हम ढंग से नकल भी नहीं कर पाए। बहरहाल, हमारे लिए चुनौती थी कि हम पूरी तरह से अमेरिकी

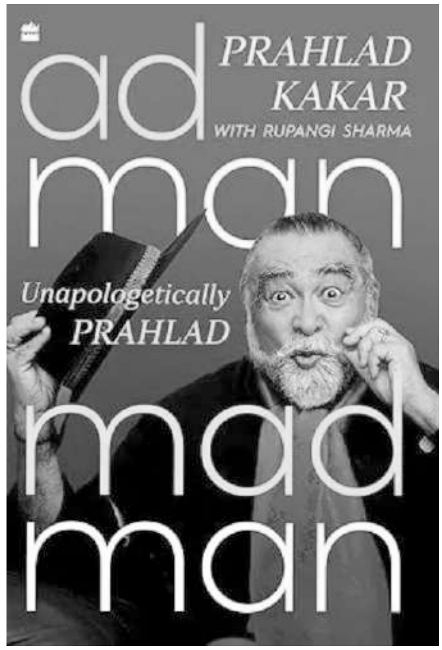

विचार को भारतीय रंग में रंगें।

तभी हमें ये भी लगा कि नज़रिए की दृष्टि से भारत में अगर कोई शहर अमेरिका के करीब है तो वो दिल्ली नहीं, मुंबई है। अगर ये विज्ञापन मुंबई में हिट हो जाता है तो पूरे भारत में चल पड़ेगा, हमने अपनी तरह से स्टोरी-लाइन का भारतीयकरण किया।

अब अगली चुनौती थी कि इस विज्ञापन के शूट के लिए किसको चुना जाए।

माइकल फ़ॉक्स का मूल विज्ञापन 90 सेकेंड का था। पेप्सी चाहता था कि भारत में इस विज्ञापन की अवधि सिर्फ़ 45 सेकेंड हो। और इसके लिए हो सके तो शाहरुख़ को लिया जाए जो उस ज़माने में उभरते हुए कलाकार थे, लेकिन प्रहलाद की टीम का मानना था कि इसके लिए आमिर ज़्यादा उपयुक्त होंगे क्योंकि उन दिनों उनकी फ़िल्म 'क़यामत से क़यामत तक' युवाओं के दिल में घर कर चुकी थी।

पेप्सी इस चुनाव से बहुत खुश नहीं हुई क्योंकि वो पहले ही शाहरुख़ से बात कर चुके थे और आमिर इसे करने के लिए बहुत अधिक उत्सुक भी नहीं थे क्योंकि उन दिनों फ़िल्म कलाकारों का एड फ़िल्म में काम करने को बहुत अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता था और दूसरे वो इसके लिए बहुत पैसे माँग रहे थे।

प्रहलाद लिखते हैं, आख़िर में हमने माइकल फ़ॉक्स की फ़िल्म दिखाकर आमिर को काम करने के लिए मना तो लिया लेकिन तब भी वो अपनी फ़ीस कम करने के लिए तैयार नहीं हुए। हमने जब पेप्सी को मनाया तो उन्होंने इस शूट के लिए अपना बजट बढ़ा दिया।

अब समस्या थी कि आमिर के साथ किस महिला को चुना जाए। एक दिन एक कुर्ती, बदरंग जीन्स और चप्पल पहने हरे आँखों वाली एक लड़की जेनेसिस के दफ़्तर में आई। उसके हाथ में एक झोला था। मेरी असिस्टेंट मोनिया सहगल ने कहा कि हम जिस लड़की की तलाश कर रहे हैं, वो हमें मिल गई है।

वे ऐडमैन मैडमैन में लिखते हैं, मुझे उस लड़की की जिस चीज़ ने सबसे अधिक आकर्षित किया वो थी उसकी आँखें। मैंने उससे अपने बालों को ढीला करने के लिए कहा। जैसे ही उसने अपने बाल ढीले किए, मैंने कहा, 'नॉट बैड।' फिर भी मेरा मन पूरी तरह से संतुष्ट नहीं हुआ।

मैंने मोनिया से कहा कि इसके बाल गीले करके बहुत कम मेक-अप के साथ इसकी तस्वीर लो। कैमरे में गज़ब की तस्वीर आई। उस लड़की का

नाम था ऐश्वर्या राय।

उन्होंने मेक-अप मैन विद्याधर से ऐश्वर्या के बारे में कहा था, 'इनको भगवान ने बहुत फुर्सत से बनाया है इसलिए इन पर बहुत ज़्यादा काम करने के बारे में सोचना भी मत।'

प्रुडेंट माउथवाश के ऐड में डॉक्टर का रोल कर रहे जलाल आग़ा पर ऐश्वर्या की सुंदरता का इतना असर हुआ कि बात-बात पर 'नॉन-वेज' जोक सुनाने वाला वो शख़्स पूरी तरह ख़ामोश हो गया।

पेप्सी के विज्ञापन की शूटिंग के बारे में प्रहलाद लिखते हैं, शूटिंग शुरू होते ही ऐश्वर्या ने ये कहते हुए अपने हाथ खड़े कर दिए कि उनसे ये नहीं हो पाएगा। मैंने उन्हें कोने में ले जाकर शांत किया और कहा, कल्पना कीजिए कि आप स्मार्ट लड़कों से भरे कमरे में खड़ी हैं।

आपको बस इतना कहना है, 'हाय, आई एम संजना, गॉट अनअदर पेप्सी?' ये वाक्य आपको चुनौती भरे लहजे में कहना है ताकि उन लड़कों में आपके लिए पेप्सी लाने की होड़ लग जाए। इस ऐड में अपनी चार सेकेंड की भूमिका के बाद ऐश्वर्या राय लीजेंड बन गईं।

उन्होंने लिखा कि इस ऐड को देखने के बाद हज़ारों माता-पिताओं ने अपनी बेटी का नाम संजना रखा।

सन 1996 में जब भारत में वर्ल्ड कप क्रिकेट का आयोजन किया गया तो पेप्सी की लाख कोशिशों के बावजूद उसके मुख्य प्रतिद्वंद्वी कोका-कोला को प्रतियोगिता का मुख्य स्पॉन्सर बनाया गया।

पेप्सी की बैठक में इस बात पर बहस हो रही थी कि कोक के ऑफ़िशियल स्पॉन्सर बनने का किस तरह सामना किया जाए, तभी प्रहलाद की जूनियर साथी अनुजा चौहान की आवाज़ गूंजी, 'हमें ऑफ़िशियल स्पॉन्सर बनने की क्या ज़रूरत है?'

अनुजा से पहले ही कह दिया गया था कि इस मीटिंग में उनका शामिल होना ही बड़ी बात है। यहाँ उनको सुनने के लिए नहीं बुलाया गया है।

प्रहलाद कक्कड़ लिखते हैं, लेकिन अनुजा नहीं मानीं। उन्होंने कहा कोक वर्ल्ड कप का ऑफ़िशियल प्रायोजक हो सकता है तो पेप्सी अन-अफ़िशियल प्रायोजक क्यों नहीं ? करीब 50 हज़ार लोग स्टेडियम में मैच देख रहे होंगे लेकिन लाखों लाख ऐसे लोग होंगे जो स्टेडियम के बाहर होंगे। हम उनको क्यों नहीं टार्गेट करते?

पेप्सी की विभा ऋषि ने एक सेंकेंड से भी कम समय में फ़ैसला लिया, हम इस आइडिया पर काम करेंगे। वहीं पर मशहूर टैग लाइन का जन्म हुआ, 'देअर इज़ नथिंग ऑफ़िशियल अबाउट इट।' पेप्सी का ये प्रचार इतना हिट हुआ कि उसने कोक के प्रचार को कहीं पीछे छोड़ दिया।

इसके कुछ दिनों बाद पेप्सी की अंतरराष्ट्रीय यूनिट ने एक नया अभियान चलाया जिसकी टॉप लाइन थी 'आस्क फ़ॉर मोर।'

प्रहलाद के नेतृत्व में इसकी तर्ज़ पर भारत में भी एक अभियान चलाया गया जिसको नाम दिया गया, 'ये दिल माँगे मोर।'

प्रहलाद लिखते हैं, इस अभियान के लिए हमने शाहिद कपूर को चुना। शुरू में पेप्सी इसके लिए राज़ी नहीं हुआ। उनका तर्क था कि शाहिद कुछ ज़्यादा ही ख़ूबसूरत हैं। उनमें मर्दाना झलक नहीं के बराबर है।

लेकिन हम पेप्सी को शाहिद कपूर के लिए मनाने में कामयाब हो गए। 'ये दिल माँगे मोर' एक तरह का राष्ट्रीय जुमला बन गया। सन 1999 में हुई कारगिल की लड़ाई में भी इसका इस्तेमाल हुआ।

जब एक पत्रकार ने परमवीर चक्र विजेता विक्रम बत्रा को उनकी जीत पर बधाई दी तो उनका जवाब था, 'ये दिल माँगे मोर।'

अपने करीब 50 साल के करियर में उन्होंने बहुत कुछ किया। उन्होंने लक्षद्वीप मे स्कूबा डाइविंग स्कूल शुरू किया। उन्होंने वाइन और सिगार बनाने से लेकर रेस्तरां खोलने के अपने सारे शौक पूरे किए।

उन्होंने पहले पृथ्वी थिएटर में जेनिफ़र कपूर के साथ मिलकर एक रेस्तराँ खोला। बाद में उन्होंने एक पंजाबी खाने का एक और रेस्तराँ खोला जिसके नाम को लेकर काफ़ी विवाद भी हुआ। रेस्तराँ का नाम रखा गया, पापा पैंचो।

इस नाम को सही ठहराते हुए उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा, 'पैंचो अब एक तरह का प्यार का संबोधन बन गया है। हम मुंबई में एक ऐसी जगह बनाना चाह रहे थे जहाँ मुंबई में रहने वाले होमसिक पंजाबी 'मम्मी दे हाथ दा खाना' का आनंद ले सकें।

हमारे पास पैंपलेट छपवाने के लिए पैसे नहीं थे। हमने एक हांडी भर कर उड़द की दाल बनवाई और उसे नमूने के तौर पर एक छोटे कुल्हड़ में भरकर इस संदेश के साथ पड़ोस के 400 घरों में मुफ़्त बाँटा, 'एक ढाबे की जान उसकी दाल है। अगर आपको हमारी दाल पसंद आएगी तो आपको यहाँ का सब कुछ पसंद आएगा।❑

हिन्दी के बारे में

❑

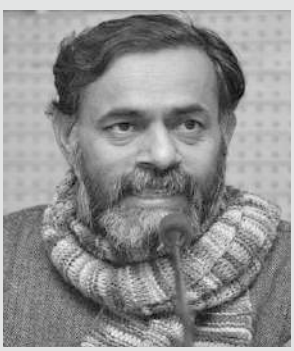

❑

योगेंद्र यादव

नीति विश्लेरुाक योगेन्द्र यादव के इंडियन एक्सप्रेस में छपे आलेख का अनुदित व संक्षिप्त रूप। सं.

हिंदी अपने विशाल आकार के कारण भारत की भाषाई विविधता में एक विशेष स्थान रखती है। जनगणना के अनुसार हिंदी के रूप में वर्गीकृत की गई छत्रछाया में 60 करोड़ (वर्तमान जनसंख्या का 42 प्रतिशत) से अधिक बोलने वालों के साथ, यह दुनिया की चौथी सबसे बड़ी भाषा है, जो किसी भी अन्य भारतीय भाषा से कहीं बड़ी है। हिंदी हमारे बहुभाषी परिदृश्य में एक सेतु का काम कर सकती है, बशर्ते वह अपनी बहुभाषी जड़ों को बनाए रखे और उनका पोषण करे, जिसमें अन्य भारतीय भाषाओं को शामिल किया जा सके और अन्य भारतीय भाषाओं तक पहुंचने वाली शाखाएं हों। इसके विपरीत, अपनी जड़ों और शाखाओं से कटी हुई हिंदी भारत को अलग-थलग कर सकती है। जो हिंदी शुद्ध बने रहना चाहती है, उच्च दर्जा प्राप्त करना चाहती है और बाकी सभी से सम्मान की मांग करती है, वह सांप्रदायिकता का वाहक बनने, सांस्कृतिक दरार को बढ़ाने और राष्ट्रीय एकता को कमजोर करने के लिए बाध्य है।

हिंदी अपनी भाषाओं के लिए सौतेली मां और अन्य भारतीय भाषाओं के लिए असफल सास की तरह है। अंग्रेजी का आधिपत्य अब पत्थर की लकीर बन गया है। हिंदी बोलने वाले किसी भी तरह से अंग्रेजी-माध्यम स्कूलों की ओर राष्ट्रीय पलायन में शामिल हो गए हैं। हिंदी पट्टी में मध्यम अभिजात वर्ग हिंदी अखबार पढ़ते हुए कभी नहीं पकड़ा जाएगा। उनकी घरेलू भाषा अब हिंदी और अंग्रेजी का मिश्रण है। हिंदी की अधीनता के रोजमर्रा के संकेत अब हमारे सामाजिक जीवन का फर्नीचर हैं। अंग्रेजी बोलने वाले पाठ्यक्रमों के विज्ञापन। माता-पिता अपने बच्चों को मेहमानों के सामने कुत्तों वाली अंग्रेजी में पेश कर रहे हैं। युवा टूटी-फूटी अंग्रेजी में अपने लड़के/लड़कियों के दोस्तों को प्रभावित करने के लिए बेताब हैं। अंग्रेजी अच्छी लगती है, लेकिन हिंदी पीछे छूट जाती है।

दुनिया की चौथी सबसे बड़ी भाषा को उसके अपने गढ़ में पढ़ाना संभव नहीं है, दूसरों को ऐसा करने के लिए मजबूर करना तो दूर की बात है। एएसईआर सर्वेक्षण हमें याद दिलाते हैं कि कक्षा 5 में हिंदी बोलने वाले अधिकांश ग्रामीण छात्र कक्षा 2 की हिंदी पाठ्यपुस्तक का एक पैराग्राफ भी नहीं पढ़ सकते हैं। हिंदी माध्यम के कॉलेजों से स्नातक करने वाले

अधिकांश छात्र अपनी हिंदी व्याकरण या यहां तक कि वर्तनी भी ठीक से नहीं कर पाते हैं।

हिंदी ने ऐसी बौद्धिक संस्कृति का निर्माण या उसे कायम नहीं रखा है, जिसे कोई भी देख सके। हिंदी लेखक विश्व स्तरीय कथा और कविताएं लिखना जारी रखते हैं, लेकिन हिंदी प्रदेश का कोई शिक्षित व्यक्ति विनोद कुमार शुक्ल जैसे जीवित महापुरुष का नाम नहीं पहचानेगा। कुछ असाधारण पत्रकार हैं, लेकिन एक भी अखबार काबिल नहीं है। अत्याधुनिक विज्ञान, तकनीक या सामाजिक विज्ञान को भूल जाइए, किसी भी अकादमिक विषय में ऐसी गुणवत्तापूर्ण पाठ्यपुस्तकें नहीं हैं, जो हिंदी माध्यम में उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले लाखों छात्रों की तत्काल जरूरत को पूरा कर सकें।

विचारों के वाहक के रूप में काम करने वाली आखिरी हिंदी पत्रिका दिनमान थी, जो आधी सदी पहले बंद हो गई। जिस देश में छात्रों को स्कूल में हिंदी बोलने पर जुर्माना लगाया जाता है, वहां हिंदी के वर्चस्व की कोई भी बात एक क्रूर मजाक के अलावा और कुछ नहीं हो सकती। वर्चस्व के लिए प्रभावी नियंत्रण और सांस्कृतिक वैधता की आवश्यकता होती है। हिंदी के पास कुछ भी नहीं है। अंग्रेजी भारतीय शासक वर्ग की भाषा है। इसे सांस्कृतिक प्रभाव, पैसा और एक बहुत शक्तिशाली शिक्षा उद्योग का समर्थन प्राप्त है। इसका प्रभुत्व उन लोगों द्वारा स्वीकार और आत्मसात किया जाता है जिन पर यह शासन करता है। यह सांस्कृतिक वर्चस्व है।

हिंदी वर्चस्ववादियों के हंगामे के बावजूद, तथ्य यह है कि हिंदी को गैर-हिंदी भाषियों पर उस तरह से नहीं थोपा गया है जिस तरह से सोवियत संघ में गैर-रूसियों पर रूसी या तिब्बत में मंदारिन थोपी गई थी। यह ठीक भी है, क्योंकि भाषाई विविधता के सम्मान ने भारतीय गणतंत्र को बचाए रखा है। निष्पक्षता से कहें तो इस मामले में हिंदी आठवीं अनुसूची की अधिकांश भाषाओं से अलग नहीं है, जिनमें से प्रत्येक ने कई अन्य भाषाओं को अपने में समाहित कर लिया है।

राजभाषा को बढ़ावा देने से हिंदी को सशक्त बनाने में कोई मदद नहीं मिली है, राजभाषा समिति के औपचारिक दौरे और हिंदी के होर्डिंग और नाम प्लेटों पर दिखावटी जोर गैर-हिंदी भाषियों को परेशान करता है। हाल ही में, भारत सरकार की सभी पहलों और योजनाओं के नाम हिंदी या संस्कृत से जुड़े हैं, जो निश्चित रूप से उन्हें परेशान करते हैं। हिंदी भाषी यह दावा करके मामले को और बदतर बना देते हैं कि हिंदी एक राष्ट्रीय भाषा है, जबकि इस दावे का कानून या संविधान में कोई समर्थन नहीं है और वे गैर-हिंदी भाषियों को सार्वजनिक या अर्ध-सार्वजनिक संदर्भों में परेशान करते हैं। शक्ति या अधिकार के बिना इस औपचारिक शीर्षक के परिणामस्वरूप सीमित आधिकारिक डोमेन में कमजोर शक्ति हुई है।

तो फिर, यह एक प्रस्ताव है। आठवीं अनुसूची में शामिल सभी 22 भाषाओं को राजभाषा का दर्जा दिया जाना चाहिए। हमें एक राष्ट्रीय, आधिकारिक या संपर्क भाषा की जरूरत नहीं है। 14 सितंबर को हिंदी दिवस से बदलकर भाषा दिवस कर दिया जाना चाहिए, जो सभी भारतीय भाषाओं का जश्न मनाने का दिन है। हिंदी को बढ़ावा देने के लिए भारत सरकार के सभी प्रयास बंद कर दिए जाने चाहिए। बंबई सिनेमा, क्रिकेट कमेंट्री, टीवी समाचार और धारावाहिकों ने हिंदी को बढ़ावा देने के लिए किसी भी आधिकारिक प्रयास से ज्यादा काम किया है। हिंदी के प्रचार-प्रसार का काम हिंदी भाषी राज्यों की सरकारों और स्वैच्छिक प्रयासों पर छोड़ देना चाहिए। जिन्हें संपर्क भाषा की जरूरत है, उन्हें खुद ही इसे चुनना चाहिए। अगर हिंदी संपर्क भाषा बनना चाहती है, तो उसे खुद को दूसरी भाषाओं से प्रदूषित होने देना चाहिए। हिंदी को बढ़ावा देने के बजाय, हमें भाषाओं को बढ़ावा देने के लिए एक राष्ट्रीय मिशन बनाना चाहिए।

इसके साथ कम से कम 100 गैर-अनुसूचित भाषाओं, तथाकथित बोलियों, को संरक्षित करने और बढ़ावा देने के लिए संस्थानों को बनाने के लिए उदार राज्य समर्थन होना चाहिए, जिन्हें हाल ही में पीपुल्स लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया द्वारा सावधानीपूर्वक प्रलेखित किया गया है। शुरुआती बिंदु एक राष्ट्रीय संकल्प हो सकता है, जो शिक्षा के अधिकार में निहित है कि प्रत्येक बच्चे को उसकी मातृभाषा में, किसी भी अनुसूचित या गैर-अनुसूचित भाषा में प्राथमिक शिक्षा प्रदान करना। हिंदी एक लोकभाषा है और यह सबसे अच्छा है कि यह ऐसी ही बनी रहे। और एक बार जब हम इस मुद्दे को सुलझा लेंगे, तो क्या हम भाषावाद पर चर्चा शुरू कर सकते हैं, जैसे हम नस्लवाद, जातिवाद और लिंगवाद पर चर्चा करते हैं?❑

वाबी–साबी: अपूर्ण, अनित्य और अधूरी चीजों की सुंदरता!

❑

❑

बी. राजन

जापानी वाबी–साबी क्या है और क्या नहीं है, इसे बेहतर तरीके से समझने के लिए, इसकी तुलना आधुनिकता से करना उपयोगी हो सकती है, जो 20वीं सदी के मध्य से लेकर अंत तक के अंतर्राष्ट्रीय औद्योगिक समाज की प्रमुख सौंदर्य संवेदनशीलता है। सं.

आधुनिकता एक फिसलन भरा शब्द है जो कला और डिजाइन के इतिहास, दृष्टिकोण और दर्शन में व्यापक रूप से फैला हुआ है। यहां हम मध्य आधुनिकता का वर्णन करेंगे, वह आधुनिकता जो न्यूयॉर्क में आधुनिक कला संग्रहालय के स्थायी संग्रह के अधिकांश टुकड़ों में सन्निहित है। मध्य आधुनिकता में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से उत्पादित अधिकांश चिकने, न्यूनतम उपकरण, मशीनें, ऑटोमोबाइल और गैजेट शामिल हैं। इसमें कंक्रीट, स्टील और ग्लास बॉक्स वाली इमारतें भी शामिल हैं, जैसे कि आधुनिक कला संग्रहालय में ही हैं।

वाबी–सबी का सबसे करीबी अंग्रेजी शब्द शायद देहाती है। वेबस्टर देहाती को सरल, कलाहीन या अपरिष्कृत... खुरदरी या अनियमित सतह वाला के रूप में परिभाषित करता है। जबकि देहाती वाबी–साबी सौंदर्यशास्त्र के केवल एक सीमित आयाम का प्रतिनिधित्व करता है, यह वह प्रारंभिक धारणा है जो कई लोगों को तब होती है जब वे पहली बार वाबी–साबी अभिव्यक्ति देखते हैं। वाबी–साबी में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें हम आम तौर पर आदिम कला कहते हैं, यानी ऐसी वस्तुएं जो मिट्टी से बनी हों, सरल हों, सरल हों और प्राकृतिक सामग्रियों से बनी हों। हालांकि, आदिम कला के विपरीत, वाबी–साबी का उपयोग लगभग कभी भी प्रतिनिधित्वात्मक या प्रतीकात्मक रूप से नहीं किया जाता है। मूल रूप से, जापानी शब्द वाबी और साबी के अर्थ काफी अलग थे। साबी का मूल रूप से अर्थ ठंडा, दुबला या मुरझाया हुआ था। वाबी का मूल अर्थ समाज से दूर प्रकृति में अकेले रहने का दुख था, और यह एक हतोत्साहित, निराश, उदास भावनात्मक स्थिति का सुझाव देता था। 14वीं शताब्दी के आसपास, दोनों शब्दों के अर्थ अधिक सकारात्मक सौंदर्य मूल्यों की दिशा में विकसित होने लगे। साधु और तपस्वी के आत्म–लगाए गए अलगाव और स्वैच्छिक गरीबी को आध्यात्मिक समृद्धि के अवसर माना जाने लगा। काव्यात्मक रूप से इच्छुक लोगों के लिए, इस तरह के जीवन ने रोज़मर्रा की ज़िंदगी के छोटे–छोटे विवरणों की सराहना और प्रकृति के अगोचर और अनदेखे पहलुओं की सुंदरता में अंतर्दृष्टि को बढ़ावा दिया। बदले में, सादगी ने एक नए, शुद्ध सौंदर्य के आधार के रूप में नया अर्थ ग्रहण किया। ❑

हिम्मत शाह नहीं रहे

भारत के प्रसिद्ध मूर्तिकार और चित्रकार हिम्मत शाह, जो आधुनिक और अमूर्त कला में अपने अनूठे योगदान के लिए जाने जाते हैं, का पिछले दिनों जयपुर में निधन हो गया। उनका जन्म 1933 में गुजरात के लोथल में हुआ था लेकिन अपने अंतिम समय में उन्होंने जयपुर को कर्मस्थली बनाया था। नगर की कला चर्चाओं तथा प्रदर्शनियों में वे हमेशा उत्साह के साथ भाग लेते नज़र आते थे।

हिम्मत शाह का नाम भारतीय मूर्तिकला के शीर्ष कलाकारों में शामिल है। वे अपने लंबे करियर में जली हुई कागज की कोलाज, वास्तुकला भित्तिचित्र, चित्रांकन और मूर्तिकला में नयापन लाये। उनके टेरेकोटा शिल्पों में हड़प्पा सभ्यता की झलक मिलती है।

उनके योगदान के लिए उन्हें कई प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित किया गया, जिनमें ललित कला अकादमी राष्ट्रीय पुरस्कार (1956, 1962), बॉम्बे आर्ट सोसाइटी अवॉर्ड (1962), जम्मू-कश्मीर यूनिवर्सिटी गोल्ड मेडल (1961), साहित्य कला परिषद पुरस्कार (1988), मध्य प्रदेश सरकार का कालिदास सम्मान (2003) शामिल है।

वरिष्ठ लेखक-पत्रकार और वर्तमान हरिदेव जोशी पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्व विद्यालय के संस्थापक कुलपति ओम थानवी ने शाह को एक महान कलाकार बताते हुए कहा कि वे समाज और कला पर सुलझे हुए विचार रखते थे।❑

RS-CIT
एक परिपूर्ण कंप्यूटर कोर्स !

RS-CIT एक विस्तृत बेसिक कंप्यूटर कोर्स है जिसकी मदद से कंप्यूटर के आवश्य कौशल सीख कर कंप्यूटर पर कार्य करने में दक्षता हासिल की जा सकती है एवं विभिन्न डिजिटल सुविधाओं के उपयोग के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है

RS-CIT कंप्यूटर कोर्स ही क्यों ?

ई-लर्निंग पर आधारित, ऑडियो-विडियो कंटेंट तथा चरणबद्ध असेसमेंट
राज्य सरकार की विभिन्न सरकारी नौकरियों में एक पात्रता ।
शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 6500 ज्ञान केंद्र ।
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा द्वारा परीक्षा एवं प्रमाण पत्र ।

अन्य कोर्सेज
- Financial Accounting
- Spoken English & Personality Development
- Desktop Publishing
- Digital Marketing
- Advanced Excel
- Cyber Security
- Business Correspondence

Rajasthan Knowledge Corporation Limited
(A Public Limited Company Promoted by Govt. of Rajasthan)

नजदीकी ज्ञान केंद्र के लिए www.rkcl.in पर विजिट करें
या 9571237334 पर WhatsApp करें

स्वत्त्वाधिकारी राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा क्लासीफाइड प्रिण्टर्स, जयपुर में मुद्रित तथा
7-ए, झालाना संस्थान क्षेत्र, जयपुर-302004 से प्रकाशित। संपादक- राजेन्द्र बोड़ा

 रजिस्ट्रार ऑव न्यूज पेपर, नयी दिल्ली के द्वारा पंजीकृत मासिक पत्रिका RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x

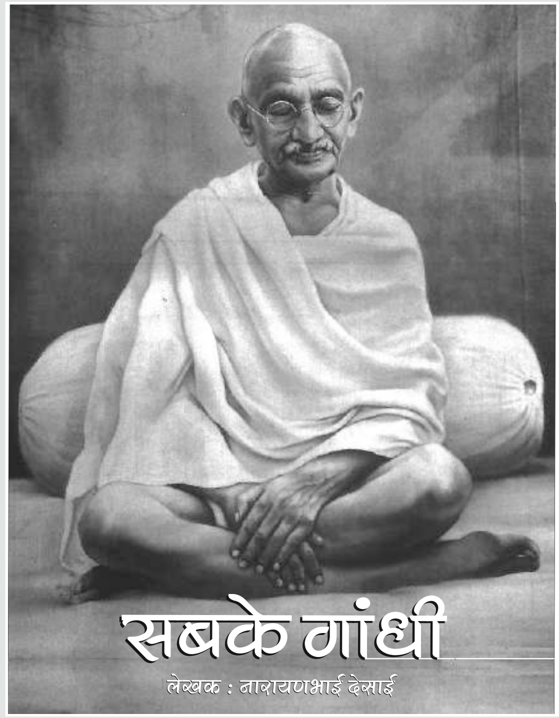

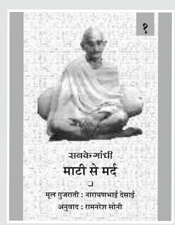

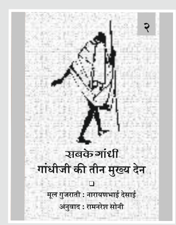

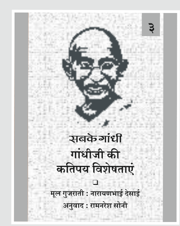

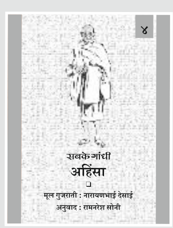

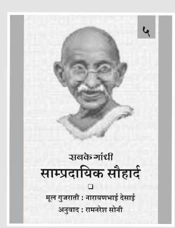

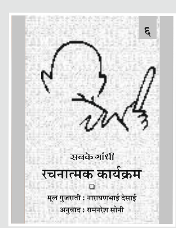

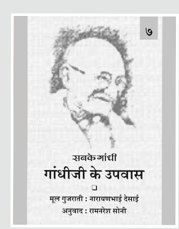

सहयोग राशि के लिए
बैंक विवरण

BANK OF BARODA
Rajasthan Adult Education Association
Branch Name : IDS Ext. Jhalana Jaipur
I.F.S.C. Code : BARB0EXTNEH (Fifth Character is zero)
Micr Code : 302012030
Acct.No. : 98150100002077

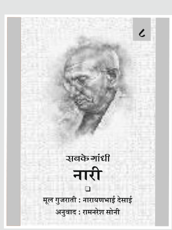

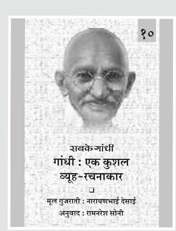

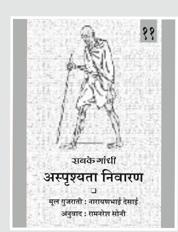

सबके गांधी

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7—ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर—302004

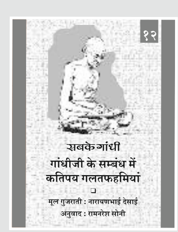

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7—ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर—302004

12 पुस्तकों के एक सैट की सहयोग राशि रुपये 500/— मात्र डाक खर्च अलग से देय होगा।